

मूल्य : छः रुपये

प्रथम सम्करण : १९६६

अध्यक्ष-विमर्श : सुशील झागरा

प्रकाशक : मेसर्स वसिष्ठसिंह हाउस

२/१२, अन्सारी रोड, दरिवागढ़, दिल्ली-६

मुद्रक : कपल प्रिंटर्स, दिल्ली-६२

पहले लोग विरवामित्र के द्वारा निर्मित मयेनल्ललोक की वास्तविकता को कथोच-कल्पना समझा करने थे, पर अब रूस और अमरीका मये जा-
 घट स्थापित कर रहे हैं। पहले सदेह स्वयं जाने की बात असत्य समझी
 जाती थी, अब मानव चन्द्रलोक में जाने की तैयारी कर रहा है और यहाँ
 से मयेनले जाकर यहाँ द्वारा सवेन छह्य किए जा रहे हैं। प्लेनचिट पर
 आर भी स्वयंमय आन्माएं अब अपना सदेश लोगों को सिखा सकती हैं
 तो वे हनको फोन नहीं कर सकती ? उन्होंने हमे फोन किया है, उन्होंने
 हमे बताया है प्रमाण दिए हैं। इन्हें कोई समत्य साहित्य करे तो हम जानें ।

अब दुसरा हिस्सा साहित्य के इतिहास में शेषक नहीं, भूल-गुणार
 की मात्र स्वीकार की जाती चाहिए। जो ऐसा नहीं करेगा वह साहित्य के
 साथ सम्पाद करेगा ।

हिन्दी के साथ बहुत सम्पाद हो रहा है। उसके साहित्य को तो कम-से-
 कम जगता ही जग्ये। सदाक नहीं, साथ ।

१३ दिनांक, १९६६

१७१६ का दिनांक नहीं है,

बादली बीच, दिनांक ६

योगानन्दसदाद व्यास

गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनका विवाह रत्नावली से हुआ था। एक दिन अपनी श्रीमती से फटकारे जाने पर उनमें विरक्ति आ गई और वह कवि से भेकर महात्मा तक बन गए।

पास

मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ

बजे होंगे बारह । दिन के नहीं, रात के । घंटी बजी । दरवाजे की नहो, टेलीफोन की । रजाई में राज रहे थे । बुरा सगा । सोना हराम कर दिया है—सरकार ने भी और फोन करने वालों ने भी । हमने श्रीमतीजी से कहा—

“प्राणवल्लभे, हे कलिकाल में मिथलेश-नन्दिनी की तरह वन्दनीया प्राणाधिके! तनिक देखो तो सही कि असमय आज तुम्हारे पति-परमेश्वर को कष्ट देने का साहस कौन कर रहा है ?”

पत्नी कुनमुनाई—“कैसे हो तुमजी ? न जाने कौन इतनी रात गए, जाने क्या कहने वाला है ? अपरिचित की अनसमझी बात को रात में सुनने के लिए अपनी पत्नी को बरबस ठेल रहे हो ! पतिव्रताएं रात के समय पति के कक्ष की देहली नहीं सांघा करतीं । जाने कौन हो, क्या कहे ?”

हमने समझाया—“भार्ये ! कोई भी हो, तुम्हें निश्चिंत रहना चाहिए । मैं तुमसे केवल पांच गज की दूरी पर हो तो हूँ । खतरा हो तो चीख पड़ना । रजाई फेंककर घा कूदूंगा । जरा जाकर सुनो तो सही । दो-चार दिन की हो बात है । शीत-लहर हमेशा थोड़े ही रहेगी । रानी, मेरी भामिनी, मान जाओ । सुनो तो सही जाकर । अगर फोन पर कोई नारी-कंठ हुआ तो तुम्हारा स्वर सुनते ही चोंगा फेंक देगा । अगर पुरुष-कंठ हो तो तुम धिधियाकर रिसीवर पटक आना । बस, इतनी-सी ही तो बात है ।”

मगर जैसे सुचेताजी ने कृपलानी की नही मानी और कांग्रेस

हलो-हलो

३

में डटी ही रहीं, वैसे ही हमारे लाख उकसाने पर भी सुलाड़िया की तरह हमारी श्रीमतीजी अपनी सुख-सेज पर अड़ी ही रही और हारकर हमें ही लालबहादुर शास्त्री की तरह बड़े समय के लिए अपनी मिनिस्ट्री को छोड़कर बाहर फोन तक जाना पड़ा। "हलो, हलो !"

"जी, बोलिए।"

"मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ !"

"कोन ? ?"

की कथा कहने वाले आप ही हैं ?”

“जी !”

“मानव की जिह्वा-रूपी देहरी पर राम-नाम-रूपी मणि का दोपक जलाकर बाहर-भीतर उजाला करने वाले सन्त आप ही हैं ?”

“जी, मैं वही राम का अकिंचन भक्त हूँ।”

“कवितावली, विनयपत्रिका, रामललानहछू—ये सब आपने ही लिखे हैं न ?”

“हां, प्रभु की कृपा से तब कुछ ऐसी सेवा बन पड़ी थी। नहीं तो मैं किस लायक हूँ।”

“प्रभो, आपने ही यह लिखा था न—

बोल-नवार गूढ़ पनु नारी।

ये सब साधन के अधिकारी ॥”

“हां, शायद रामायण में मैंने ऐसा कही लिखा है। सुनिए, मैंने एक जरूरी काम में इस समय आपको कष्ट दिया है।”

हमने कहा—“ठहलिए गुस्ताईजी, एक मिनट ठहरिए ! केवल एक मिनट ! मैं अभी हाजिर हुआ।” कहते-कहते हम अपने कमरे में भागकर आए और श्रीमतीजी के ऊपर पड़े लिहाफ को खींचकर उनसे कहा—“शुननी हो ! गुना तुमने ? स्वर्ग में तुलसीदासजी का फोन आया है।”

श्रीमतीजी हड़बड़ाकर उठ पड़ी। उन्होंने सट में बिजली का बटन दबाया। हमें गिर में पाव तक बई बार देमकर बोलीं—“कहीं दिमाग लौ भराव नहीं हो गया ?”

यों हम अपनी पत्नी को गो में गो निग्यानवे बानों को गिर भूटा-कर स्वीकार कर लिया करने हैं मगर घात्र जीवन् में पृथ्वी बार हमने उनके समक्ष प्रकट की। कहा—“नहीं भगवती, न मैं गुनाय में हारा हूँ, न दण्ड या मन्त्रिभट्टन से निकाला गया हूँ, न मैं घात्र दरदर नेट पट्टा था, न मोटकर घर ही देरी में आया हूँ, न गमा-सम्पत्ति में टूट टूटा हुआ हूँ और न गम्भादक ने मेरी रक्ता ही लौटाई

है, फिर मेरा दिमाग खराब क्यों होता ? वह तुलसीदासजी ही बोल रहे हैं !”

“अगर दिमाग खराब नहीं हुआ है तो यह बताओ कि स्वर्ग से दिल्ली का संबंध कब से कायम हुआ है ? ये ऑपरेटर लोग रात को अपनी नींद दूर करने के लिए ऐसे ही मजाक किया करते हैं। मुंह ठंक्कर सो जाओ ! कोई उलसी-तुलसीदास नहीं बोल रहे। लोग तुम्हें बना रहे हैं।”



हलो-हलो

७

जीवन भर किसी का झूठा नहीं किया। अब भी नहीं करूंगा।"

"अच्छा महाराज, यह न सही। मगर यह तो बताइए कि आपने रत्नावली के साथ इतना अन्याय क्यों किया था?"

"कौन रत्नावली?"

"प्रभो वही आपकी पत्नी! जिसके उपदेश से आपने राम-रस चखा। जिसके लिए आप गंगा पार कर अंधेरी रात में अपनी ससुराल पहुंचे। जिसकी

सजी के उस
फोन पर
और सहसा
थि ही जाने
तचीत का
गे न थक

तुलसीदासजी के उस
दिन अचानक फोन पर
प्रकट हो उठने और सहसा
लाइन के सराव हो जाने
के कारण वास्तविकता का
सिलसिला आगे न बढ़

यह मैंने कहा कि मेरी शादी हुई थी

“हलो, हलो ! दू सेवन एट डबल दू वन ?”

“जी, हां ! बोल रहे हैं।”

“हलो, हलो ! इलाहाबाद ! बोलिए ! दिल्ली ! जी, बोलिए !”

“.....”

“हलो ! हलो ! ! इलाहाबाद !”

“दू सेवन एट डबल दू वन ? तुलसीदासजी तो बातें कीजिए !”

“जय जानपी-जीवन ! मैं तुलसीदास बोल रहा हूँ। अच्छे हैं ?”

हमने विनीत-भाव से उत्तर दिया—“हमरी कुशल तुम्हारी दायी।”

बिना भूमिका के गुसाईंजी ने बात प्रारम्भ की—“हां, उस दिन तो बाग़ झपूरी ही रह गई। मैं कह रहा था कि इतिहास-सेलकों ने मेरे साथ ग्याय नहीं किया।”

“कैसे, गुसाईंजी ?” हमने पूछा।

“किसी निषेध को अगर आप करोड़ीमल कहें तो उसे कैसे समेगा ?”

“अवश्य ही समेगा नहीं समेगा।”

और जिसके मुखरपी दरेंता को शीतमा ने अपनी कंकश टांकी से अच्छी तरह मोटा है, उसे घात चन्द्राकर कहें तो उसकी क्या गति होगी ?”

“वही जो अभिनन्दन-वर्षों से घाने दुर्गम गृधोंका त्रिक घाने पर

स्वयंभू नेता की होती है । ”

“और यदि किसी विवाहेच्छुक कुमारी को किसी भव्य पार्टी में किसी सुन्दर युवक से मिलाने समय कहा जाए कि आप हैं श्रीमती मधुरिमाजी । ”

“तो वह कहने वाले पर खिसियानी बिल्ली की तरह झपट पड़ेगी । ”

“ठीक कहते हैं आप,” तुलसीदासजी ने ठंडी आह भरते

यह मैंने कहां कहा है कि मेरी शादी हुई थी

"हलो, हलो ! दू सेवन एट डबल दू वन ?"

"जी, हां ! बोल रहे हैं।"

"हलो, हलो ! इलाहाबाद ! बोलिए ! दिल्ली ! जी, बोलिए !"

"....."

"हलो ! हलो !! इलाहाबाद !"

"दू सेवन एट डबल दू वन ? तुलसीदासजी से बातें कीजिए।"

"जय जानकी-जीवन ! मैं तुलसीदास बोल रहा हूं। अच्छे हैं ?"

हमने विनीत-भाव से उत्तर दिया—'हमारी कुशल तुम्हारी बापा।'

बिना भूमिका के गुसाईंजी ने बात प्रारम्भ की—'हां, उस दिन तो बात अधूरी ही रह गई। मैं कह रहा था कि इतिहास-लेखकों ने मेरे साथ न्याय नहीं किया।'

"कैसे, गुसाईंजी ?" हमने पूछा।

"किसी निर्धन को अगर आप करोड़ीमल कहें तो उसे कैसा लगेगा ?"

"अवश्य ही भला नहीं लगेगा।"

मुखरूपी दर्रेता की सीतला ने अपनी फर्कश टांकी

कहें तो उसकी क्या गति

जिन्क आने पर

हलो-हलो

११

स्वयंभू नेता की होती है !”

“और यदि किसी विवाहेच्छुक कुमारी को किसी भव्य पार्टी में किसी सुन्दर युवक से मिलाते समय कहा जाए कि आप हैं श्रीमती मधुरिमाजी !”

“तो वह कहने वाले पर खिसियानी बिल्ली की तरह झपट पड़ेगी !”

“ठीक कहते हैं आप,” तुलसीदासजी ने ठड़ी आह भरते

“जी, याद है !”

“क्या याद है, जरा सुनाओ तो ?”

हमने तुरन्त ‘कवितावली’ का प्रसिद्ध सर्वथा तुलसीदासजी को सुना दिया—

“विन्ध्य के बासी उदासी भट्टा व्रतधारी सब विनु नारि दुसारे,
गौतम तीय तरी ‘तुलसी’ सो कया मुनि भे मुनि-बुन्द मुखारे ।
हैं है सिला सब चन्दमुखी परसे पद-पंकज भंजु तिहारे,
कोन्ही भली रघुनायकजू करुनाकर कानन कों पग धारे !”

“बिलकुल ठीक ! अब आप सोचिए कि जब विन्ध्याचल का हर तपस्वी यह कामना कर रहा है कि राम के इस दोष में चरण पड़ते ही यहां की हर शिला नारी हो उठेगी ! क्या महिल्या, केवट और मुनियों के उक्त प्रकरण में आपको लेखक के आकुल अन्तर की कल्पना पुकार गुनाई नहीं पड़ती ?”

हमने तत्काल प्रतिवाद किया—“गुनाईजी, आप यह हमसे क्या मजाक कर रहे हैं ? भक्तिरस-प्रकाशित आपके सद्ग्रंथों ने हमारे मानस-पटल पर आपकी जो पावन मूर्ति प्रकट की है, उसे आप खुद भी मिटाना चाहें तो नहीं मिट सकती ! भाड़ में जाए ऐसा मनोविज्ञान ! हमारे आराध्य तुलसी गल्ल हैं, चमत्कारिक हैं !”

फोन में ऊपर से हंसी की आवाज गुनाई दी । वह कह रहे थे—
“यही न कि मैंने मुर्दे को जीवित कर दिया था ! यही न कि लोगों ने मेरी कुटी की रक्षा करने के लिए स्वयं राम-भगवान धनुष-बाण लेकर आए थे ! यही न कि मेरे इशारे पर हनुमानजी के सैनिकों ने बादशाह के किनारे घेर लिया था !”

‘जी, हा ! जी, हा !’

‘और ऐसा समर्थ आदमी जीवन में अपने लिए केवल एक मतिनी भी नहीं मान्य कर सक्ता ?’

हमने बीच में ही टोका—“पर महाराज, आपका विशाद तो रत्नावली में हुआ था ?”

“यह मैंने कहीं कहा है क्या ? आपने रामायण, कवितावली, मयपत्रिका, दोहावली में कहीं इसका उल्लेख पड़ा है ?”

“नहीं, भगवन ! पर आपने तो राम-कथा कही है, अपने सम्बन्ध में आजकल के कवि लोग कहते हैं। वे तो पीछे के लोगों के लिए जलीफ करने को कुछ छोड़ते ही नहीं।”

“मैंने भी कुछ नहीं छोड़ा है। परन्तु कोई पढ़े तो सही ? क्या ‘जायो कल मंगन’

हमारे हृदय में भी दुंदुभी बजती थी। कोई तिरछे नयनों से इंगित कर हमें भी घटना स्वामी कहने सजुना जाए इसकी कामना थी। पर हमारे भाग्य में तो माताएं और राक्षसियां ही लिखी थीं।”

‘क्या मतसब?’ हमारे यह पूछने पर कविकुल-चूड़ामणि तुलसीदासजी ने बताया—“जगन्माता जानकी, रामजी की माता कौशल्या, सरलदासजी की माता गुमिना, भरतजी की माता कैंकेयी और त्रिदेवों की माता अनमूया का ही तो हमने यशोगान किया है। इनके प्रति-रिपत ताड़का, मंथरा, दूषनखा, लंकिनी, मन्दोदरी ये सब राक्षसियां हैं। बेचारी परती तो हमारे साहित्य में घायी ही नहीं। आती भी कैसे? जीवन-भर उससे साक्षात्कार जो न हुआ ! हमारे जीवन और साहित्य की यही सबसे बड़ी कमी रही। पर अब पछताए होत का?”

हमने पूछा—“महाराज, खैर जो हुआ सो हुआ। मगर आज के साहित्यकारों के लिए अब आपका क्या सन्देश है?”

तुलसीदासजी बोले—“बस, मुझे एक ही बात कहनी है और वह यह —

एके धरम, एक व्रत, मेमा !

काय, वचन, मन तिय-वद प्रेमा !”

और इतना कहकर उन्होंने खट-से रिसीवर रख दिया।

महाकवि सूरदास ने स्वर्ण
से फोन किया है कि मेरे साथ
हिन्दी के इतिहासकारों ने भारी
अन्याय किया है । उसका प्रति-
कार होना चाहिए । कौन
कहता है कि मैं अन्याय था । मुझे

कौन कहता है मुझे दिखाई नहीं देता था

सबेरे-सबेरे हम त्रिफला से अपनी आँखें धो रहे थे कि फोन की घंटी बजी। बेटी मुड्डी ने बताया—“चाचाजी, ट्रंक-काल है।”

जल्दी-जल्दी तौलिये से अपना मुँह पोंछते-पोंछते हमने पूछा—
“कहाँ से है? कौन बोल रहा है?”

मुड्डी बोली—“पता नहीं, कोई बुढ़ा गंवई बोली में बोल रहा है। जल्दी आइए।”

हमने रिमीवर कान पर रखते हुए कहा—“जी!”

“मैं मूरज बोल रहा हूँ!”

हमने कहा—“धमा कीजिए, मैंने पहचाना नहीं।”

उत्तर मिला—“मैं दिल्ली से आठ मील उरँ सीढ़ी गाँव को रहिबे चारो हूँ। बाबूजी, मेरे संग बड़ी धन्याय भयो है।”

हमने धन्यमनस्कता से पीछा छुड़ाने के लिए कहा—“सीढ़ी तो मुढगाँवा जिने के धन्यमन है। हरियाणा के मामले में मैं कुछ नहीं कर सकता। धारा अपने एम०एल०ए० या जिला-मजिस्ट्रेटों से मिलिए। क्या कोई उमोन-बायदाद या पचावन का मामला है?”

उपर में धाराज आयी “नाहिं भइया, जमीन-बायदाद तो हमारे पुरखन के ऊ नाहिं हनी। जीवन-भर में बाऊ की पचावन में नारी परयो।”

“तो फिर किंगों में फौजदारी हो गई होगी? तुम्हारे गाँव का सरदार या बज्ज कौन है? जाट, साना या कोई ब्राह्मण देवता?”

उसने कुछ झीर-मा ही मिला—“भइया, फौजदारी तो मेरी

हलो-हलो

१७

एक बेर बंसीबारे ई ते भई हती । का सों मैंने स्वाफ-स्वाफ कह दई हती—

बाह छुड़ाएँ जात ही,
निबल जानि कें मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे,
मरद बढोंगो छोहि ॥

का तुम अबई तलक मोय नाहि पहिचाने ? ”

हम एक क्षण के लिए सक्ते में पड़ ग ।

“तो वास्तविकता क्या है, सूरदासजी ?”

“बात तो भइयाजी, बहुतेरी एं। पै संक्षेप में मोय इतनी ही कहनी ऐ के मैं वैष्णव हूं और महाप्रभु श्री वत्सभाचार्यजी को सेवक हूं। मैंने जीवन-पर्यन्त श्री गिरिराज घरण प्रभु की लीला गाई एं और मैं अन्धो नाहि हतो। मैंने दुनिया भली प्रकार सूँ देखी हती।”

“फिर आपके विषय में यह सब प्रवाद कैसे फैला ? कुछ-न-कुछ तो बात होगी ही !” हमने आश्चर्य से पूछा।

“बात तो केवल इतनी-सी हती कै साठ बरस की उमर में मेरी एक आंख में मोतियाबिन्दु उत्तरि आयी। वा जमाने में आजकल की नाई, कहा कहें है वा सो, आपरेसुन नाहि होते हते। जा कारन मोहि कछु कम दीखवे लग्यो। धीरे-धीरे दूसरी आंख हू पहली के वियोग में दूबरी होन लगी और दुष्ट लोग मोहे सूरदास कहिवे लते।”

हमने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा—“यह तो बहुत बुरा हुआ। मगर महाकवि, आज इस बात को कौन सब मानेगा ?”

सूरदासजी ने तुरन्त उत्तर दिया—“मैंने याही कारन तो आपको फोन किया है। मैं आपको कछु प्रमान देऊं हूं, तिनकूं तुम जगत में उजागर करी।”

हम सांस रोककर सुनने लगे और सूरदासजी ने कहना शुरू किया—“हमने अपने एक पद में स्वाफ-स्वाफ लिख्यो है—

सूरदास की एक आंख है,

ताह में कछु कानो।

का जाते बढ़िकें कोऊ और अन्तर-सान्छ की आवश्यकता रहि जाय है ?”

“परन्तु सूरदासजी, इसका अर्थ तो विद्वान लोग भक्ति-परम्परा में आपसी भक्तिभाव विनय के रूप में लेते हैं। कहते हैं कि सूरदास तो ज्ञान और भक्ति की दो आंखों में से केवल एक भक्ति की आंख से ही दुनिया को देखते हैं और वह भी थोड़ा-थोड़ा।”

“जिही ती भीकबी है। कै पढ़े-लिखे लोग बिना मतलब के प्रयं की

हलो-हलो

अनपं करि डारै हैं । पहलै मेरी आखन तैं पानी की ठरफा बहन ल
हो । ताही समै मैंने श्रीनाथ जी कूं यह पद गाय कैं सुनायो—नि
दिन बरसत नैन हमारे !”

लम्बी साँस भर सूरदासजी आगे कहने लगे—“पै टेढ़ी ट
वारे नै हमारी कोई सुनवाई नाहों करी । तब काहू नै हम ते कही
जो सूरदासजी, मथुरा सहर में एक मदनगोपाल नाम की आद

पारासोली कैसे जाते हैं। अन्धो आदमी बहुत घनेनी पहाड़ पे रोज चढ़ि-उतरि सके हैं ? और 'वार्ता' को ई लिखी प्रमान मानी हो तो वार्ता में तो एक स्थान पे ऐसी हू लिखी है कै मूरदास मन्दिर के काम ते कयहु-कयहु मथुरा घायी-जायी करते हैं। सो तुमही कहो, अन्ध आदमीन के सिपुरद कयहु बारह कोस दूरि जद के मन्दिर के प्रबंध की काम सोंपो जाय ऐ ?"

एकएक हमारे ध्यान में मूरदास का प्रकृति-वर्णन, रंगों की छटा, घालकृष्ण की चिरकन, उनका 'हरि पालने भूलाव' वाला पद बिजली की तरह कौंध गया। निस्संदेह मानव के रूप-रंग का ऐसा सूक्ष्म वर्णन करने वाला कवि कहीं अंधा हो सकता है !

मूरदास ने कहा— "हमे अपने जीवन में ई जा बात की कछु-कछु आभास है गयी हती कै लोग हमें सुभती नाहि कहेंगे। जाते हमने देह छोड़िबे तँ पहले हू गुसाईंजी के सामने आंखिन की ही चर्चा करी—

संजन नैन रूप-रस माने !
चलि-चलि जात निकट सवननि के,
उलटि-मलटि ताटक फंदाने ।
'मूरदास' अंजन गुन बटके,
नतर अवहि उडि जाने !

"भइयाजी, जा को मतलब जि है के एक समय हमारी रसिक आंखें संजन के समान हती। वे इतेक लम्बी हतीं के कानन तक उनके कौने पहुंची करते हैं। वे इतनी बड़ी और चंचल हतीं कै जो हम बिनु में काजर नाय लगाते तो निकस ही पड़ती। वस, जाते आगे हम आपसे और का कहें ? तुम खुद बहोत समझदार हो। हिन्दी के काहू सोध करिबेवारे तक हमारी बात पहुंचाय दीजों। आगे की काम तो बु आपसे ऊ चोखी करि लेगी। अच्छी, अब जय श्रीकृष्ण करूं हूं !"

वार्तालाप के अन्त में मूरदासजी ने बताया कि कबीरदासजी की राम की बहुरिया आपसे बातें करने को बहुत उत्सुक हैं। अगर उनका फोन आये तो सुन लीजिएगा।

कबीरदासजी ने 'राम की
बहुरिया' को बड़ी खरी-सोटी
सुनाई है। वह ठगिनी है, जादू-
गरनी है। जो उसके जाल में फँसा,
वही भरा। मगर एक दिन फोन

जी, मेरा नाम 'राम की बहुरिया' है

"हल्लो जी ! मैं माया बोल रही हूँ," एक बारीक और मीठी आवाज कहीं दूर से फोन पर आती हुई सुनाई दी : "....जी हैं क्या ?"

अपने स्वर में पुलक भरते हुए हमने कहा—“जी हां, मैं बोल रहा हूँ। आशा कीजिए !”

बीणा-विनिन्दित स्वर उत्तर में पुनः गूँज उठा—“कुछ नहीं जी, बहुत दिनों से आपके दर्शनों की इच्छा थी, पर निकलना ही नहीं होता। सोचा, आज आपको फोन ही कर लूँ।”

“जी, बड़ी कृपा हुई। कहिए, क्या आशा है ?” और मन में सोचने लगा—कौन है यह मायादेवी ? माया तो गरीब ब्राह्मणों से लोगों दूर भागती है। यह क्या माया है ? हो सकता है श्रीमतीजी की कोई सहेली हो ? पूछा—“अवर्णीजी को बुलाऊँ ?”

‘नहीं-नहीं, मुझे आपसे ही काम है।’

हमने गिर खुलकर सोचा—माया का हमसे क्या काम हो सकता है ? स्वर से तो यह कोई कवयित्री या अभिनेत्री मान्य होती है। पर नहीं, आजकल तो हर सड़की स्वर से कवयित्री और शकल से अभिनेत्री दिखाई पड़ती है। हम सोच ही रहे थे, कि सुनाई दिया—“आजकल कुछ दिनों से मैं नई दिल्ली आयी हुई हूँ।”

आह ! तब तो यह कोई उदात्तमान समाज-सेविका है। किसी दिष्टमण्डप में सलनऊ, भोगान या बण्डीगढ़ में तनरीक लायी है। किसी ने कह दिया होगा कि मैं पत्रकार हूँ और उनके काम आ सकता हूँ। नहीं तो कोई, और खास तौर से सड़कियाँ, किसी की बिना

हलो-हलो

८९६२

मतलब के फोन करती हैं ?

हमें चुप देखकर उन्होंने पुनः कहा — 'क्यों आपने मुझे पहचाना नहीं ?'

मन में तो आया कि कह दूँ—'अजी ! माया से अपनी पहचान कहाँ ?' पर न जाने कौन हो, क्या समझे ? सोचकर चुप रह गया ।

पर उधर से फोन चुप रहने के लिए नहीं किया गया था ।

नहीं देते ।”

हमने घुटकी मी—“वे क्या कहते ? ?”

‘वे कहते हैं—

“बुलबुल कहें,

कि येना कहें,

कि येरी गीन-धिरया बाँधो तो ?

ये रगमय अपनी बाँध—

कोयलिया सोचो तो ।”

हमन सोचा—मायादेवी हैं तो सरस । पूछा—“आप लोग बनारस में करते क्या थे ?”

मायादेवी ने बताया—“हमारे ‘उनकी’ साड़ियों की दुकान थी । हम लोग कबीरदास का माल सरोदते थे ।”

“कबीरदास अपने काम में कैसे थे ?”

“बंदरफुल ! बूढ़ा अपने काम में बहुत चौचक था । कतान की साड़ी उसके हाथ की याजार में बहुत पसन्द की जाती थी । कपड़े को ठोककर बुनता था । बनारसी काम पर उसका हाथ बहुत सधा था । हमेशा नए डिजाइन के रेजे धाते थे, उसके दिमाग में । मैंने तो हमेशा कविता के मुकाबले उसकी बनाई हुई साड़ी ही अधिक पसन्द की । अभी भी मेरे पास उसकी एकाध चीज पड़ी होगी । परसाहब, या बड़ा सनकी । उसने कोई भी आर्डर कभी भी वक्त पर सप्लाई नहीं किया । कौंठी वाले खरीददार उसके चक्कर ही लगाया करते थे । ‘विजनिस्’ को कभी उसने ‘विजनिस्’ के रूप में लिया ही नहीं, लेकिन उसका लड़का ऐसा नहीं था । वह दुनियादार था । कच्चा-पक्का, उल्टा-सीधा बेचकर पैसे कमाने की धुन उसमें थी, इसीलिए कबीरदास की उससे नहीं पटती थी । एक जगह उन्होंने लिख भी दिया था—

बूढ़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल ।

हरि का सुमरन छोड़कर, घर ले जाया माल ।”

हमने प्रसंग को बदलते हुए देवीजी से पूछा—“आपका कहना

हलो-हलो

२

ठीक है, मगर आपका कबीरदासजी से क्या भगड़ा था ?”

“वह मेरी भी समझ में आज तक नहीं आया । मैं अच्छा पहनती थी, अच्छा खाती थी, अच्छी लगती थी, अच्छे लोगों से मिलती-जुलती थी । शायद बूढ़े को ये बातें पसन्द नहीं थीं । वह धूर-धूरकर मुझे अपनी मित्रमित्री आंखों से गुस्से में ताका करता था और मुझे सुना सुनाकर गाया करता था—

ठगिनी, क्या नीन

“ ?

कबीर दास का नाम है, जिस भुवाये हुए,

आगरा के देवे बनवास आकर बनवास

‘तो कबीरदास को कवि बनाने वाली घाप ही है !’

उत्तर मिला— यह तो ठीक-ठीक मझी कह सारंगी, अगर इतना
घबरप है कि गरीब मुझे जन्म-भर कीमता रहा—

कबीर माया मोहिनी, जैसी मोहिनी ताड़।

गणपति की चिरता मई, नहीं तो करनी भाव।”

हमने परिहास किया—“मायादेवी, भीठी तो घाप है ही। कबीर-
दास ने कहा तो गमन क्या कहा ?”

मायाजी सजाकर बोलीं—“घाप भी कैसी बातें करते हैं जी !
किसी शादीशुदा धीरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई
एटीकेट है क्या ?”

हमने कहा—“अगर कबीरदास तो इससे तत्त्वज्ञान को प्राप्त
हो ही गए। मायादेवी, घाप नहीं जानतीं किस प्रकार घापने
... में कबीरदास की ‘कुण्डलिनी’ को जाग्रत कर दिया। कैसे
... देखकर उनका ‘अष्टकमल दल चरखा’ झोलने लगा।

हलो-हलो

आप धन्य हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान कवि प्रदान कर दिया। ऐसी वृत्ति वाला खरा कवि, जिसने भाषा और तुष्णा से कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है।”

हमारी बात शायद सुनकर मायादेवी का मुँह बिचक गया हो उन्होंने कहा—आप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, अन्ध से नहीं। क्या आपने अपने कबीरदास की यह घोषणा नहीं पढ़ी ?

कबीर माया डाकनीं, तब जिस ही को लाई ।

दाँत उगारी पापनीं, जे संतों बेरे जाद ।

मैंने जब उसकी मासी-गलोज़ सुनी तो एक बार अपनी एक सहेली को उसके पास भेजा और पुछवाया—‘घातिर तुम माया के पीछे क्यों पड़े हो ?’ तो आप जानते हैं, बूढ़े ने क्या उत्तर दिया ? बोला—

कबीर माया मोहिनी, मोहे जान-मुवान ।

आपे हू छुटै नहीं, भरि-भरि मारे बान ॥

“जब मैंने यह सुना, तब मैंने अपना सिर पीट लिया । बूढ़ा काफी सनक गया था । वह उसी दिन से बीखलाया-बीखलाया-सा रहने लगा । घर-बार भी छोड़ दिया । ताने-बाने को उसने उठाकर खुद ही फेंक दिया । और एक दिन ‘आज’ कार्यालय के चौराहे पर गला फाड़ने लगा—

कबिरा सडा बाजार मे, लिए मुकाठी हाथ,

जो सर देव आपना, चले हमारे साथ ।”

“तो कबीरदास को कवि बनाने वाली आप ही हैं !”

उत्तर मिला—“यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकती, मगर इतना अवश्य है कि गरीब मुझे जन्म-भर कोसता रहा—

कबीर माया मोहिनी, जैसी मोठी खांड ।

सतगुर की किरपा भई, नहीं तो करती भांड ।”

हमने परिहास किया—“मायादेवी, मीठी तो आप हैं ही । कबीर-दास ने कहा तो गलत क्या कहा ?”

मायाजी लजाकर बोली—“आप भी कैसी बातें करते हैं जी ! किसी शादीशुदा औरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई एटीकेट है क्या ?”

हमने कहा—“मगर कबीरदास तो इससे सत्त्वज्ञान को प्राप्त हो ही गए । मायादेवी, आप नहीं जानतीं किस प्रकार आपने मनजाने में कबीरदास की ‘कृण्डलिनी’ को जाग्रत कर दिया । कैसे आपको देखकर उनका ‘मष्टकमल दल चरखा’ डोलने लगा ।

हलो-हलो

२

भाप धन्य हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान् कवि प्रदान कर दिया। ऐसी वृत्ति वाला सारा कवि, जिसने प्राशा और तुष्णा से कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है।”

हमारी बात शायद सुनकर मायादेवी का मुंह बिचक गया हो उन्होंने कहा—भाप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, भन्द से नहीं। क्या आपने अपने कबीरदास की यह धोषणा नहीं पढ़ी ?

माया भरी

कबीर माया डाकनीं, सब किस ही को सार्ई ।

दात उपासी पापनी, जे संतो नेरे जाई ।

मैंने जब उसकी गाली-गलौज सुनी तो एकबार अपनी एक सहेली को उसके पास भेजा और पुछवाया—‘आखिर तुम माया के पीछे क्यों पड़े हो ?’ तो आप जानते हैं, बूढ़े ने क्या उत्तर दिया ? बोला—

कबीर माया मोहिनी, मोहे जान-मुजान ।

माणे हू छुटै नही, भरि-भरि मारे मान ॥

“जब मैंने यह सुना, तब मैंने अपना सिर पीट लिया । बूढ़ा काफी सनक गया था । वह उसी दिन से बीसलाया-बीसलाया-सा रहने लगा । घर-बार भी छोड़ दिया । साने-वाने को उसने उठाकर सुद ही फेंक दिया । और एक दिन ‘आज’ कार्यालय के चौराहे पर गला फाड़ने लगा—

कबिरा सदा बाजार मे, लिए मुचाटी हाथ,

जो सर देवे आपना, अपने हमारे साथ ।”

‘तो कबीरदास को कवि बनाने वाली आप ही हैं !”

उत्तर मिला — ‘यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकती, मगर इतना अवश्य है कि गरीब मुझे जन्म-भर कोमता रहा—

कबीर माया मोहिनी, जैगी मोटी लांड ।

मनपुर की किरण मई, नहीं तो करनी चांड ।”

हमने परिहास किया—“मायादेवी, मीठी तो आप हैं ही । कबीर-दास ने कहा तो गमन क्या कहा ?”

मायादेवी मजावर बोली—“आप भी कैसी बातें करने हैं जी ! किसी शादी-मुदा औरत के बारे में इस तरह की बातें लिखना कोई एंटीसेट है क्या ?”

हमने कहा—“मगर कबीरदास तो हममें तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो ही गए । मायादेवी, आप नहीं जानती किम प्रकार दरशने में कबीरदास की ‘बुधातिनी’ को आपन कर ...

आपको देखकर उनका ‘अटवमल दय बनना’ -

भाप धन्य हैं, कि आपने हिन्दी को इतना महान कवि प्रदान कर दिया । ऐसी वृत्ति वाला खरा कवि, जिसने आशा और तृष्णा सब कुछ का त्याग कर दिया हो, आज जगत में दूसरा नहीं है ।”

हमारी बात शायद मुनकर मायादेवी का मुंह बिचक गया हो । उन्होंने कहा—आप कवियों को सिर्फ ऊपर से ही जानते हैं, अन्दर से नहीं । क्या आपने अपने कबीरदास की यह घोषणा नहीं पढ़ी ?

‘हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आचार्य
केशवदास के बाल लालबहादुर शास्त्री
की तरह मुलायम और कामराज की
तरह काले थे। वे कृपलानी की तरह

केशवदास के बाल काले थे

उस दिन जब फोन पर प्रवीनराय मुखरित हुई, तब हमारी उम्र में सहसा दस वर्ष का मुघार हो गया। स्वर का जादू कैसा होता है, यह हमने उसी दिन जाना। श्रृपम, गांधार और मध्यम का पता ही न था। केवल पंचम-ही-पंचम के स्वर बज रहे थे। हमने दीड़कर पहले रेडियो बन्द किया। 'विविध भारती' पर लता का गीत आ रहा था। कहां लता और कहां प्रवीनराय! हमने पड़ज पर अपने स्वर को बांधकर कहा—“हे काव्यकला-प्रवीणे, हे गुन-गन भागरी, ओरछा के नेह-निकुंजों में नव किसलय के समान लहलहाने वाली नागरी, हे आचार्य केशव की प्रेरणा और इंद्रजीत-सिंह की प्रिये, बताइए, मैं आपकी क्या सेवा करके अपने को धन्य अनुभव कर सकता हूँ?”

जैसे अमुए की ढाली से कोयल कूक उठी हो, सुनाई दिया—
“धैक्यू—आई मीन धन्यवाद। मैंने किसी खास ‘परपज’ से नहीं, अपने फैमिली ट्यूटर, आई मीन गुरुजी के बारे में फैली हुई गन्दी अफवाहों को मिटाने के लिहाज से फोन किया है।”

हम स्वर-गंगा में डूबते-उतराते बचन-माधुरी का पान करने लगे। प्रवीन कह रही थी—“मेरा ‘बिगनिंग’ से ही कविता में ‘टेस्ट’ रहा है। मैंने डियर इन्दर से कहा। वह केशवदास को ले आए और मेरा ‘ट्यूटर’ बना दिया। मैं उनसे छन्द, अलंकार, रस आदि कभी-कभी पढ़ लेती थी।”

हमने बीच में ही टोककर कहा—“पर हमने तो सुना है कि कविता में आपकी बड़ी दिलचस्पी थी। केशवदासजी आपके शिक्षक

हलो-हलो

११

ही नहीं, अंतरंग मित्र भी थे। आपकी लिखी हुई कई कविताएं हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध हैं।”

प्रवीनराय पंचम से घेंवत पर चढ़ गई और बोली—“नॉन्सेन्स। दैट बाज नोट माई हॉयी, कविता तो मेरे लिए शगल था। डियर इन्दर को चूँकि कविता से बेहद दिलचस्पी थी, इसलिए मैंने भी उसके लिए केशवदाम को ट्यूटर लगा लिया था। यह सब तो आजकल भी

“जैसे ?” हमने पूछा ।

प्रवीनराय ने बताया—“एक दिन मैं एक कमल के फूल से खेल रही थी । केशव आए और कहने लगे—

रत्नाकर सालित सदा, परमानन्दहि नीन

अमल कमल कमनीय कर, रमा कि राय प्रवीन ।

तात्पर्य यह कि उन्होंने मेरी तुलना लक्ष्मी से कर डाली । सुनकर मुझे हँसी आ गई । पर इस हँसी का अर्थ केशव कुछ और समझे । जनका होसला और बड़ गया । एक दिन वह बोले—

वृषभ-बाहिनी अंग हरि बामुकि ससत प्रवीन ।

सिब संग सोहे सबंदा, शिवा कि राय प्रवीन ?”

हमने हँसकर कहा—“केशव माने नहीं । आपको उन्होंने बेल पर बैठा ही दिया !”

प्रवीन ने कहा—“कवियों के साथ खतरा तो रहता ही है । ये हाथी पर चढ़ाते-चढ़ाते लोगों को गधे पर भी बैठा दिया करते हैं । इनमे दोस्ती भी बुरी, दुश्मनी भी बुरी । पर मैं क्या करती ? साधारण थी ।”

प्रवीनराय ने आगे कहा—“केशवदास मुझे मानवी से देवी बनाने में जुट गए थे । कभी कहते—‘प्रवीने, तुम साक्षात् सरस्वती हो ।’ कभी कहते—‘स्वयं रति हो ।’ अपनी प्रशंसा आप जानिए सभी को अच्छी लगती है । पर कभी-कभी तो उनकी बेनुकी बातों से मैं बुरी तरह खीझ भी जाती थी । मैंने तय किया कि इन हजरत के सामने आगे से कभी श्रृंगार करके नहीं आऊँगी । मैं आभूषण उतारकर मना गादे बैग में उनसे मित्रने लगी । दो-चार दिन तो वह धुपचाप देगने रहे । मगर एक दिन बोले :

अदवि मुवानि मुनच्छनी मुवन्न नरम मुपुत ।

भूषण विनु न विराई कतिना बलिा पिन ॥”

हमने हँसकर कहा—“कमल यह कि केशव बुरी तरह आगले पीछे पड़े थे ?”

हलो-हलो

३३

प्रवीनराय बोलीं—“ऐसी बात नहीं, पंडित बड़ा घाघ यानी ‘पॉली-टिशियन’ था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि ‘बॉस’ की प्रेयसी है, इसलिए इसे पटाकर रखी। इसी वजह से वह हमारी ‘बटरिंग’ किया करता था। हमें कविताएं लिखकर देता था। अकबर के दरबार से बीरबल की भाफंत उसी ने हमें वापस बुलाया था।”

हमने कहा—“जो भी हो, आपकी बातों से यह तो सिद्ध हो ही

गए होंगे। यह 'सन' शब्द अंग्रेजी का है, जिसका अर्थ बेटा होता है।”

“क्या मतलब ?” हमने आश्चर्य से पूछा।

तो प्रवीनराय ने हमें उस दोहे का अर्थ बताया—

“केशवदास के बेटे ने ऐसा किया था जैसा कोई दुश्मन भी नहीं करता। (वह यह कि) चन्द्रमुखी मृगनयनियां (जिसे मुन-मुनकर) तोबा (घावा) करके (भाग) जाती थीं।”

दोहे का यह निराला अर्थ सुनकर हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। हमने प्रवीनराय से पूछा—“केशव के बेटे ने ऐसा क्या किया था, जिससे सुन्दरियां तोबा करके भाग खड़ी होती थीं ?”

सुनकर प्रवीनराय बोलीं—“उस जमाने में भी कवियों और कविताओं के पीछे दीवानी होनेवाली सुन्दरियों की कमी नहीं थी। अपना 'पयूवर' खुद बनानेवाली हर लड़की का यह खयाल था कि अगर उसे भी कविता करनी आ जाए और आचार्य केशव की कृपा प्राप्त हो सके तो वह भी मेरी तरह राज-दरबार में सम्मानित हो सकती है, लेकिन केशव की पत्नी भी कम सावधान नहीं थी। वह अपने पति पर काफी कड़ी निगाह रखती थी। उसने अपने लड़के को सिखा रखा था। जब कभी कोई सुन्दरी घर आकर केशवदासजी के बारे में पूछती, तब वह चूल्हे में से जलती हुई लकड़ी निकालकर उसे मारने को दौड़ पड़ता था और पुकार उठता था—‘अम्मा-अम्मा, जल्दी आम्मी, वह यही है। देखो, भाग न जाए।’

हमने कहा—“आपने घटना तो मजेदार बताई, मगर बताइए कि केशवदाम के जमाने में अंग्रेजी कहां से आ गई ?”

प्रवीनराय ने उत्तर दिया—“अंग्रेजी तो महाशयजी हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के आने से पहले ही आ गई थी। इसलिए तो वह उनके जाने के बाद भी नहीं जा रही। केशवदास के परिवार के लोग ही नहीं, उनके नौकर-चाकर भी अंग्रेजी पढ़े हुए थे। उन्होंने मुझे छंद, अलंकार ही नहीं, अंग्रेजी भी पढ़ाई थी। वह खुद अंग्रेजी के मुकाबले

में हिन्दी को अत्यन्त निकृष्ट भाषा मानते थे । क्या आपने उनका यह दर्द-भरा दोहा नहीं पढ़ा :

भाषा बोलि न जानई जिनके कुल को दास ।

भाषा कवि भो मन्दमति, सिहि कुल केशवदास ।

उनके कहने का मतलब यह था कि जिनके नौकर भी हिन्दी बोलना नहीं जानते, उसी भाषा (हिन्दी) में मतिमंद केशवदास की अपनी कविता

निकलवा लूंगा। यदि आप किसी को वहां भेजकर यह खुदाई करा सकें तो इससे साहित्य का भी भला होगा और कवि को प्रेत-योनि से भी छुट्टी मिल जाएगी, नहीं तो...!”

“नहीं तो क्या?”

प्रवीनराय ने अत्यन्त गम्भीरता से कहा—“नहीं तो केशवदास का प्रेत एक दिन मुझसे कह रहा था कि वह हिन्दी के किसी समा-लोचक को चैन से नहीं बैठने देगा। उनकी समालोचना-शैली को वैसा ही कठिन काव्य का प्रेत बना डालेगा, जैसा कि वे लोग उसकी कविता को कहा करते हैं।

अरे हाँ, सुनिए। वीररस के कवि भूपण की भाभी ने एक दिन मुझसे कहा था कि वह भी किसी दिन आपसे फोन पर घातें करना चाहती हैं।”

मुकुवि बिहारी-
मालवी की सतसई के
सम्बन्ध में एक नए
विषय का पता लगा है।
जहाँ यह कि उसके दोहे
मुकुवि के अपने नहीं,

बिहारी के ससुर बोले

कभी घापने टेवीफोन की घटी का बिस्नेपण किया है ? नहीं, तो मुनिए—जब कभी मवेरे-मवेरे फोन की घंटी एक-दो बार बजकर एकाएक रुक जाए तो समझ लीजिए कि उसपर फोन पर वही पति-पत्नी का झगड़ा हो रहा है और श्रीमन्नीजी नहीं चाहती कि उनके पति मवेरे-मवेरे फोन पर रहकर हिम्मे में बालें करने में उसलक जाएं। यदि टीका-टीक होरहो में बड़े डोर से घटी लगातार बज उठे, तो जानिए कि पोन्गनी प्रौढ़ व्यक्ति है और या तो उन्होंने कई दिनों से मोह लड़ी धनवाई या फिर उन्हें लडा-जडा बड़ाने का मौक है। अगर दरबार में लड़े बार बजे के घामघाम फोन घाए तो मानना चाहिए कि घर में देवीजी में हुआ की है और शाम वा दिग्गी विवेगा में जाने के लिए वे लगे डिस्ट मजान की बाग होनी। इसी प्रकार रात को भी बजे के बाद घण्टा फोन घाए, तो उनके हमेशा घड़ने दिग्ग से उठना चाहिए। कलेंड वला लड़ी, बज फोन तर्ज में घाया हो या मपने में ? यह दिग्ग समझ है कि वह दस और समुर बोनी ही टेवीफोन की लडाई पर मजिब गज है। दुर्लभ बज वाय जब दग बजने में दग दिग्ग वा हवाय बाज की लड़ी लड़ी, यह उसके माव हो ह्मावे ह्माव को बज बज हो बज-बज म् बजने लगी।

केरिब एन्ड्रिज कि हर्दे मन्वम हो मदा कि बजगने लगी कोई बज लगे है। बजने के लडाईवाय दिग्गी लडाई के दसल मजान दस लगे के लडाई लडा -

जब सुनना बंद हो, बड़ा लडा बज-बज लगी बज है क ?

हमने इस बेतकलुफी-भरे स्वर को एकाएक पहचाना नहीं । हम सोच ही रहे थे कि पुनः सुनाई दिया :

“अरे, हमें नायनें पहचानें ? हम मुकट चीबे हैं, बिहारी सतसई वारे के समुर ।”

“मुकट चीबे !” आश्चर्य से हमारे मुह से निकला ।

जगमगावियर जानिए,
 रांड बुदेने बान ।
 तरनाई घाई मुगद,
 मधुरा घगि सगुरान ।”

चीवेजी ने उत्तर दिया—“ठीक है । हमने उन्हें घर-जमाई रख लिये हैं । हमने सोची कि हमारी छोरी को कविताई को शौक है और छोराहू कवि-कुल को है । जोरी ठीक रहेगी । हमने अपनी बेटी ते पछी के लाली छोरा तोय पसन्द है तो बानें हमें एक परचा पे लिख बाँ दयो :

क्यों न जुरे जोरी जुगल,
 क्यों न सनेह गंभीर ।
 को घटि के रूपमानुजा,
 के हलपर के वीर ।

ये दोहा वास्तव में हमारी छोरी को कप्यो है, बिहारी नें जाके सुह में चिरजीवों शब्द जोड़कर अपना घनाय लियौ है ।”

हमने शंका की—“भगर चीवेजी, आपकी पुत्री के कवियित्री होने का प्रमाण क्या है ?”

“प्रमाण ! कोऊ खोजवे वारो होनी चाइए । प्रमाण तो पग-पग पर मिल जाइगे ।”

“कैसे ?”

“हमारी पुत्री,” चीवेजी बोले, “अलि नाम से कविता कियो करती ही । बाने बहुतेरे दोहन में अपनी छाप छोड़ी है ।”

“जैसे ?” हमने पूछा ।

तो चीवेजी ने बताया—“मुनो, बिहारोलाल मिर्जा राजा जय-सिंह के पास जो दोहा लेके गयो हो और जाके कारन बाये ऐसी ऊंची पदवी मिली बु हमारी छोरी को ही लिखयो भयो हो :

नहि परग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल,
 ‘मली’ बली हो सौ विघ्यों, भागे कवन हवाल ?”

“अच्छा । यह बात है, चौबेजी । कोई और प्रमाण दीजिए ।”

“एक नहीं महलेन उदाहरण लेऊ ।” कहते हुए चौबेजी ने सुनाया :

खेलन सिखए ‘भलि’ भले, चतुर झहेरी-मार ।

कानन-बारी नैन मृग, नागर-नरनु-सिफार ॥

इतेक तें संतोष न होय तो और हू लेठ :

सम्पत्ति दान करी । पर मेरी स्वाभिमानी बेटी ने जि दोहा लिखके वो दानपत्र वापस कर दयो :

तो अनेक भोगुन मरिहि, चाहे याहि बुलाइ ।

जो पति संपत्तिहू बिना जदुपति राखे जाइ ॥”

हमने पूछा—“चौबेजी, यदि सारे दोहे आपकी सुपुत्री ही लिख दिया करती थी, तो बिहारीलालजी क्या किया करते थे ?”

मुनकर चौबेजी बोले—“वे ? तीन टेम भांग छानते, दिनभर बगीची में पड़े रहते, दंड पेलते, कबूतर उड़ाते, लट्ठू-फिरकती फिराते और अंधेरी रात में चौबेन के छोरान के संग भालमिचौनी खेलो करते हे । तुमने कबूतरवाजी पे उनको ये दोहा पढ़ो ही होगो :

पट पालें, भल कांकरे,

सपर परई संग ।

मुली परंवा जगत में,

एक मुही बिहंग ॥”

“तो महाराज, उनका सचा कंसे चलता था ?”

“हमने बताया न कि बिहारीलाल को घर-जमाई राख्यो हो । बाको मंगरो सचा हमें ही उठावना पड़तो हो । कंतो हम कों बकुषा खोलना पड़तो, कं छोरी कों दोहा लिख के देने पड़ते । वो मेरी मार तो जनम को ग्यावा-उड़ावा हो । अच्छो पहरतो, अच्छो सानो और उलटो हमपे ही मतरानो । बहोत दिना तो हमने सही पर एक दिना गुस्सा भाय गई और बिहारीलाल को भाड़ दियो । बाही समय बाने हम पे जि दोहा लिख मारयो :

भावन जाल न जानिषु तेजहि तत्रि निवसान ।

परहि-अबाईलो बट्यो, सरोजुम दिन मानु ॥”

मुनकर हमें हमी आयी । हम बोले—“चौबेजी महाराज, क्या बिहारीलालजी ने जन्म-भर कोई घंघा नहीं किया ?”

प्योत पर उधर मे घावाज आयी—“हू, कुछ एक दिना बाने रंग-रेडी को बान किया हो । माड़ी-दुपट्टा रंगनी बां बहोत अच्छो बाने

हलो-हलो

४३

हो, कौनसे रंगते मिलके कौनसी रंग बने है याकी बाय अच्छी पहचान
ही । सतसई को पहलो दोहा तुमने पढ़ो ही होयगो :

जा तन की भाई पर, स्याम हरित दुति होय ।

और हूं सुनो :

टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख ओत,
फिरत रसोई के डगर जगर मगर दुति होत ।

पढ़कर पंसारी ने अपने करम ठोक लिए और बिहारीलाल को बिहारी कर दियो।”

हमने पूछा—“चतुर्वेदीजी, तब तो आपकी पुत्री का जीवन बड़ा असन्तोष में ही रहा होगा?”

“हां भैया, सांची कहो। बु बिहारीलाल की आदतन तें बड़ी परेगान ही। रात-दिन हम ते भौंक्यों करे हो और हम वाय धीरज बंधावते रहते—

दीरघ सांस न लेहि दुल,
 मुख साईं हि न भूल।
 दर्द-दर्द क्यों करत है,
 दर्द-दर्द मु कबूल ॥”

मिथवन्धुओं में से एक—श्री स्वाम-
बिहायीजी उस दिन फोन पर आकर
महाकवि देव की वकालत करने लगे ।
उन्होंने यह भी बताया कि 'मिथवन्धु-
विनोद' का एक धनुषा नया संस्करण

देव बनाम बिहारी : मिश्रबन्धु उवाच

यात कल प्रातः की है। हम संध्या-चन्दन के उपरान्त गमले में लगे गुड़हल के मुरझाते हुए फूल की ओर देख रहे थे कि गुड्डी ने कहा—“आपका फोन है।”

हमने रिसीवर उठाते हुए पूछा—“कौन साहब?”

उत्तर मिला—“श्यामबिहारी मिश्र।”

पूछा—“कहां से बोल रहे हैं?”

जवाब आया—“परलोक से।”

“परलोक से! श्यामबिहारी मिश्र?” हमारी समझ में नहीं आया।

“मैं मिश्रबन्धुओं में से एक हूँ। पहचाना?”

“अरे, आप हैं! नमस्कार, मिश्रजी! बड़ी कृपा की।”

“हां, हमने सोचा, जब आपकी तरफ से कृपा में कोताही हो रही है, तो अपनी तरफ से तो नहीं होनी चाहिए।”

“नहीं, महाराज! ऐसी क्या बात है। आप तो बड़े हैं।”

“तभी तो आप हमें भूल गए,” मिश्रजी ने कहा—“जिते देवो वह शुक्लजी की चर्चा करता नजर आता है। भाई, हमारा ‘मिश्र बन्धु-विनोद’ न होता तो शुक्लजी का इतिहास कैसे लिखा जाता? हिन्दी समालोचना का शुभारम्भ हमारे ‘हिन्दी नववर्त्तन’ से ही तो हुआ है!”

हमने कहा—“मिश्रजी, आप सही कह रहे हैं। पर महाराज, परलोक की टेलीफोन डायरेक्टरी तो हमारे पास है नही कि हम

हलो-हलो

४७

अपनी तरफ से नम्बर मिलाकर कमबख्त साहित्यकारों से यातें कर सकें। अब तो आप लोगों की सत् कृपा पर ही अबलम्बित रहना पड़ता है।”

“हां, यही सोचकर हम चले आए। नहीं तो मिश्रबन्धुओं का स्वाभिमानी स्वभाव आप जानते ही हैं।”

“यड़ी कृपा की!” हमने विनत भाव से कहा।

“

सरकारी खरीद में खपने वाली किताबें।”

हमने कहा—“महाराज, यह काम तो आपके महाकवि ने भी किया था।”

“क्या?” रोष-भरे स्वर में मिथजी ने पूछा।

“यही कि जब जिस राजा के पास गए, उसी के नाम से, जैसी उसकी रुचि हुई आगे-पीछे जोड़कर अपनी पुरानी पुस्तक को नई बनाकर उसके नाम से भेंट कर दी और अपने पैसे खरे किए। आज-कल के प्रकाशक भी देव मनोवृत्ति के हैं, जहां जो भी सपत होती है, उल्टा-सीधा छाप डालते हैं। देव की तरह उन्हें भी अपने टकों से काम है।”

मिथजी बोले—“मगर ये लोग अपनी गलती को गलती तो नहीं मानते। पदचाताप की भावना इनमें जरा भी नहीं है। मगर देव में ऐसा नहीं था। उन्होंने अपने मन को ऐसे कार्यों के लिए घुलकर धिक्कारा है :

एगो नु हों जान तो कि जै है तू विप के संग,
एरे मन, मेरे, तेरे हाथ-पाव तोरणों।
धानु नौ हो कन मरनाहन की नाहीं गुनी,
प्रेम नौ निहोरि, हेरि बदन निहोली।
अपन न देनी बिन अपन अपन करि,
आवुज बिनावनीनि मारि मूढ़ मोरनी।
आरो प्रेम-पापर नगारो दै गरे सों बाधि—
गयावर-विरद के बारिध मे मोरनी॥”

हमने कहा—“मिथजी, यह तो देव कवि की बुझाये की उक्ति है। वन के उतार पर तो सायद आज के प्रकाशक भी ऐसा अनुभव करने लगे। वहीं वन पर तो देव कवि ने ‘घण्ट्याम’ के बहाने और विभिन्न जानियों की नारियों का चरुचुड़ाना पश्रिय दिया है।”

व्यसनिधारीजी ने हमें डांटा—“यह तुम नहीं बोल रहे, वं० रामचन्द्र शुक्ल बोल रहे हैं। देव की ममय के लिए, जिस मन-वृत्ति

की उन्नत है, वह धार्य-मयाजी और नास्तिबना के रंग में रंगे लोगों
के वाग मही हो सकती । क्या समूचे हिन्दी माहिन्द में देव बरि की
इत दवाग का कोई छन्द है ! —

पीढ़ी बिदेसि बहु गिदि माली,
बन्दन बारे बु धार न होनी ।
बार लो बुदि बुमान वरन्द,

भी किसी को नहीं है ! साहित्य में मान और उसके मोचन पर सभी कवियों ने लिखा है, मगर देव का वर्णन इस सब में अनूठ है । उनकी नायिका एक शब्द कहे बिना ही प्रतीकों से अपना मान प्रकट करती है और उसका पर्यवसान किस कलात्मकता से होता है यह जरा आज के कवियों को बताइएगा :

भोठन ते उठि, पीठि पै बैठि,
कंधान पै बैठि, लम्बो मुख-भोरन ।
भंग-सकोरन ते चढ़ि कोप,
लिपार बह्यो, बड़ि भौंह-भरोरन ।
भ्रंक में लाय मयंकमुखी लई,
लाल की भोर चिते दुग-कोरनि ।
भासुनि बूझ्यो, उसास बह्यो,
किघो मान बड्यो हिलकी कीहिलोरन ।”

हमारे मुंह से निकला, “वाह-वाह ! क्या सुन्दर छन्द सुनाया है, मिथजी !”

मिथजी उत्साहित होकर बोले, “कोई एक थोड़े ही है । ऐसे सैकड़ों छन्द हैं । इनका एक सुन्दर संकलन छपना चाहिए । कोई प्रकाशक तैयार हो तो हम यहां से पांडुलिपि तैयार करके भेज दें ।”

हमने कहा, “पूछकर बताऊंगा, मिथजी ! वैसे आजकल आप कर क्या रहे हैं ?”

“मिश्रबन्धु-विनोद का नवीनतम खण्ड तैयार कर रहे हैं ।”

“उसमें क्या होगा ?”

मिथजी बोले, “उसमें हिन्दी के उन वर्तमान साहित्यकारों की सूची और पत्र होंगे, जिनकी रचनाएं सम्पादकों की टोकरी में पड़ी रह जाती हैं और छपने नहीं पातीं । ऐसे कवियों का विस्तृत परिचय होगा, जो केवल कवि-सम्मेलनों में भास्था रहते हैं, पत्र-पत्रिकाओं में नहीं । ऐसी संस्थाओं के कार्यों का विवरण होगा, जिनके उद्देश्य तो

हलो-हलो

५१

जंघे होते हैं, मगर कार्य नगण्य या बिलकुल नहीं। ऐसी पत्र-पत्रिकाओं का भी जिक्र होगा कि जिनका नाम रजिस्ट्रेशन ऑफिस और कागज का कोटा देने वाले कार्यालय में तो है मगर बाजार में जिनकी प्रति दुर्लभ है।”

हमने बीच में टोककर पूछा, “इससे क्या लाभ होगा, मिथजी ?”

महारवि मूषण के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बड़े निटस्ने थे । न काम करते थे, न काय । साली-बीली घोंस दिगाया करने से घर में ।

एक दिन सखी को, लेकर घर में भाभी से झगड़ा हो गया । उन्होंने रवि को मिट्टक दिया, 'बड़ा नमक कमाकर लाने हो न ?' और मूषण अलौनी सखी बुढ़ापे लाने की बजाय, तपकर घर

झगड़ा नमक पर नहीं, मिर्च पर

“जी, मैं भूपण की भाभी बोल रही हूँ।” फोन आया।

“नमस्ते जी, मैं आपके फोन का ही इन्तज़ार कर रहा था। कहिए, कुशल से तो हैं न?”

“हां जी, ठीक ही है। पर एक अपवाद मुझे खाए जा रहा है।”

“क्या?” हमने उत्सुकता से पूछा।

कुछ हस्यांसी-सी आवाज़ में उत्तर मिला, “यही कि मैंने मांगने पर भी लालाजी को नमक नहीं दिया था। भला, नमक-जैसी छोटी-सी चीज़ पर मैं उनका दिल दुखाती?”

हमने सहानुभूति-भरे स्वर में पूछा, “हां, भाभीजी, सोचते तो हम भी यही थे। नमक-सत्याग्रह तो गांधीजी के ज़माने की बात है। औरंगज़ेब के शासन में सहिष्णुता की भले कमी रही हो, नमक से लेकर ज़हर तक का उन दिनों कोई तोड़ा न था। कृपया बताएं कि बात वास्तव में क्या थी?”

एक लम्बी सांस भरकर भाभीजी बोलीं, “भूपण भाई बचपन से ही बड़े जिद्दी और क्रोधी स्वभाव के थे। मेरे सिवा घर में उनका सबसे झगड़ा रहता था। बड़ा तेज़ मिज़ाज था उनका। वह किसी से साधारण बातचीत करते और कोई दूर से मुन लेता तो यही समझता था कि किसी से झगड़ा हो रहा है। मैं उन्हें बड़ा समझाती थी—‘भैया, धीरे बोला करो, नव के चला करो। ज़माना बड़ा खराब है। औरंगज़ेब का शासन है। इतनी तेज़ी ठीक नहीं, तो जानते हो क्या कहते थे?’”

हमारे पूछने पर भाभीजी ने बताया, “कहते थे, हम समुद्रे का

हलो-हलो

५५

दिया खाते हैं जो किसी से दवें ?”

टेलीफोन में घड़-घड़ की आवाजें आने लगीं । हमने विनोद में माभीजी से कहा, “देखिए, टेलीफोन भी भूषण का नाम लेते ही वीर-रस की कविता पढ़ने लगा !”

सुनकर माभीजी को हँसी आ गई । बोलीं, “पतिराम भाई का भी यही हाल था । वह हरदम परुषा वृत्ति अस्तित्वार किए रहते थे ।

हैं जो बाजार से कभी मिठाई का दोना लेकर नहीं, हमेशा मिर्चों का पुड़ा लेकर लौटते थे। कभी सौगात भी लाते तो दही-बड़ों की, जिनमें इतनी मिर्चें पड़ी होतीं कि देखकर ही मेरी भ्रांतों से पानी आने लगता। उनके पसन्द की चीज थी जलजीरा। इतना तेज कि छूते ही जीभ जलने लगे।”

थोड़ी देर रुककर भाभी ने आगे कहा, “ज्यादा मिर्चें खाने से उनका शरीर सूखकर भ्रमचूर हो गया था। मोरा-चिट्ठा रंग झुलस कर तवे-जैसा हो गया था। लड़की वाले आते और देरा-देराकर उनके डंग लौट जाते। लौट क्या जाते, वह स्वयं उन्हें बिदका देते थे। यह भीरत को भीरत मानते ही नहीं थे। हर स्त्री उनके लिए पंडी थी। सुमने पड़ा नहीं, उन्होंने क्या लिखा है।

मोटी भई चंभी,
बिन मोटी के चलाई सीत।
मोटी भई सपनि,
भक्ता के चरने की।

अब भाग ही लगाए, मद्रमी को इस प्रकार मोटी और भीरत को यो मोटी बहने जाने को कोई अपनी लड़की व्याह्र सक्ता था? और जीवन में बिना नारी के आए कोई भादभी सहज या सपुर हो सक्ता है? मैं उनके उलटपलट को घर में एक बटू लाकर दूर करना चाहती थी, मगर वह विवाह के नाम से बेगें ही भागने थे जैसे पारिष्कान के धात्र के मदर अपुव भगने देश में प्रमानंन के नाम में बिदबने हैं!”

“पर आर्भात्री, आप वह कैसे बहती हैं?” हमने पूछा, “भूयस को मोन्दर-बोव मो था। उन्होंने बंगा मुन्दर वर्जन लिखा है—

कर्मिदा विपुल विनि
छाईरा कर्मिदा वर,
कर्मिदा कर्मिदा,
मुनकर्मिदा मुनकी की।”

भाभीजी ने बीच में ही हमें टोकते हुए कहा, “इसे आप सौन्दर्य-
बोध कहते हैं ? यह तो संकटग्रस्त सलनाथों का उपहास उड़ाना हुआ ।
मसहाय की सहायता की जाती है या उसकी खिल्ली उड़ाई जाती
है ? कोई भला आदमी कभी विपत्ति में फंसी हुई नारियों के बारे में
इस तरह लिख सकता है :

सीबी कहे सों

फुरी आ गई। उन्होंने औरंगजेब की आंखों में भी मिर्चें भोंक दीं। उसे खरी-खोटी सुनाकर वह सीधे मिर्चों के देश में छत्रपति शिवाजी के पास पहुंचे, जो भूषण की प्रेरणा से जन्मभर पातशाही को मिर्चें लगाते रहे। जरा सोचिए, अगर आपसे उनका झगड़ा न हुआ होता, तो हिन्दी को वीर-रस का एकमात्र कवि उपलब्ध होता ?”

ठंडी सांस भरकर भाभी ने कहा, “हिन्दी को तो वीर-रस का कवि मिल गया, मगर मुझे तो बदले में मिर्चें ही मिलीं। भूषण ने जानते हो इसका मुझे क्या उपहार दिया ? उसने एक हाथी पर मिर्चें लदवाकर मुझे भेजी थीं :

जिन जग जीवन पाय,
मिर्च कौ स्वाद न जान्यो।
विरथा जीवन गयो,
न मुल सी कारो घान्यो।
नहिं भलत मिर्चं सह नर नहीं,
कवि भूषण उर धानिए।
सह मुकवि नहीं है, मुकवि है,
जिहि मुख मिर्च न जानिए।”

तीन सप्ताह पूर्व हम
रहीम खानखाना की कब्र
पर अपना सेंस लिखकर
इसलिए रख आए थे कि
उनकी पवित्र रूह उसे देख

रहीम की कहानी : उनके मजार की जबानी

लेखक को निडर होना चाहिए । हम भी किसी से डरते नहीं । पर उस दिन हमारे छक्के छूट गए । फोन सायं-सायं, सूं-सूं कर रहा था । उसमें से कभी किलकारी निकलती थी तो कभी हू-हू ! लगता था जैसे कोई वृक्ष टूटकर गिर रहा हो और कभी-कभी पत्थरों के टूटकर चटखने की-सी आवाज भी सुनाई पड़ जाती थी । हम अभी तक फोन पर मधुर कंठों की ही सुनने के आदी थे । पर आज जो अट्टहास सुना तो घिग्घी बँध गई । पंखे के नीचे बैठे-बैठे भी हमें पसीना आ गया था । धबकाकर हमने फोन बन्द कर दिया । न जाने कौन बला है ?

मगर घंटो फिर घड़ियाल की तरह घनघना उठी । सुनाई दिया, "डर गए !"

स्वर इतना भारी और भैरव था कि सहसा हमसे जवाब देते न बना । कुछ सेकण्ड के बाद हमने साहस बटोरकर पूछा, "कौन हैं आप ?"

उत्तर में पुनः अट्टहास ध्वनित हुआ । एक बार तो हमें लगा कि रिस्तीवर हाथ से छूटकर अपनी इहलीला समाप्त करने पर उतारू है । पर हमने उसे मजबूती से पकड़े ही रखा । दूसरे हाथ से कुर्सी का हत्या मजबूती से पकड़ लिया । फोन पर कोई कह रहा था, "जनाब, मैं आदमी नहीं हूँ ।"

यह तो हम पहले ही समझ गए थे कि आज हमारा पाला आदमी पड़ा है । अवश्य ही यह कोई भूत या जिन्न है । टेलीफोन माहित्यकारों जैसी बातचीत करने का सिलसिला शुरू

हलो-हलो

६१

किया। पूछा, "तब आप कौन हैं? क्या चाहते हैं?"

ऐसा लगता है कि हमें ही नहीं, एक्सचेंज में काम करने वाली लड़कियों को भी इस वार्तालाप से कैपकैपी आ गई थी। कारण, एका-एक फोन कट गया और बाद में जब पुनः सिलसिला जुड़ा तो लाइन पर लड़की नहीं, कोई सरदारजी बैठे थे।

शायद सरदारजी के

कहाँ गे घोम रहे हैं ? कँते घोम रहे हैं ? फोन भागके पास भाया है या भाग गुद फोन पर सगरीफ से आए हैं ? ईंट, चूने और पत्थरों को तो घोमते कभी किसी ने गुना नहीं ? आदमी का 'सोल्डमैन' (प्रबन्धना) तो आदमी ही होता है, पत्थर नहीं होता !”

फोन पर पुनः घट्टहाग गूँज उठा, मगर इस बार उममें पहले-जैसी विकटता नहीं थी, उपहास का पुट ही अधिक था । सुनाई पड़ा, “घरे मियां, जब दीयारों के कान हो सकते हैं तो मजारों के मुँह नहीं हो सकता ? मालूम पड़ता है कि तुमने अभी दुनिया को ठीक से देखा-परखा नहीं । आज आदमी पत्थर बन गया है और पत्थर इन्सान । जमाने ने आज आदमी की जुवान बन्द कर दी है और पत्थर चहुँकने लगे हैं । फिर मैं ? जनाव, मेरा जिस्म ही चूने-पत्थर का बना है । मेरे अन्दर जो इन्सानियत की रूह बसी हुई है, उसे आज के इन्सान जानकर भी नहीं जान पाएंगे ।”

सुनकर हम सन्नाटे में आ गए । कुछ कहने ही वाले थे कि उधर से फिर सुनाई दिया, “पत्थर के भी दिल होता है, भाईजान ! वह आदमी के कलेजे की तरह नहीं है—बेवफा और खुदगर्ज ! आपने इतना बड़ा मजमून लिखकर खानखाना की कन्न पर रखा । मैं पूछता हूँ कि क्या खानखाना के साथ उनकी खिन्दगी में या उनके गुजरने के बाद इन्साफ हुआ ? क्या ऐसे शेरेनर, क्या ऐसे नेक इन्सान और इतने ऊँचे शायर का यही हल होना चाहिए था ?”

हमने कहा—“दुरुस्त फरमाते हैं, मजार साहब !”

“क्या दुरुस्त फरमाते हैं ?” इतने जोर से कहा गया कि हम तो अपने को जैसे-तैसे संभाल गए, मगर एक्सचेंज पर बैठे हुए सरदारजी की चीख निकल गई । सुनाई पड़ा—

“वे महावीरा, तू फड़ एस चोगे नूं, मैं जरा चा-चू पी आंवां ।”

उधर मजार साहब फरमा रहे थे, “बेव फाई की भी हद होती है । जिस सल्तनत की खातिर रहीम ने खुद को गारत कर दिया उसी ने उसे गद्दार करार दिया । मजहब के जिन ऊँचे उमूलों पर

हलो-हलो

६१

वह सब कुछ सोकर भी टिका रहा, उसी के ठेकेदारों ने उससे निगाह घुरा ली। शियाओं ने उसे शिया नहीं जाना। सुन्नियों ने उसे सुन्नी नहीं माना। मुसलमान उसे हिन्दू कहते रहे और हिन्दू उसे मुसलमान। और मदब (साहित्य) की दुनिया वाले तो उनसे भी बढ़कर एहसान-करामोश निकले। जिसने अपनी सारी दोस्त शायरों और कवियों की छोटी-छोटी

“क्या कहलवाया है ?” हमने जरा उतावली से पूछा ।

“कहलवाया है,” मजार साहब बताने लगे, “मजमून के लिखने वाले से कहना कि साहित्य और राजनीति दोनों रकावों में पैर रचना ठीक नहीं । अगर आदमी समर्थ हो तो दो औरतों से तो शादी करके एक घड़ी सुख से रह भी सकता है, मगर साहित्य और राजनीति से एक साथ शादी करके न कोई कभी सुखी रहा है और न रह सकता है । एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं, मगर ये दोनों सोतें नहीं रह सकतीं । आजकल के हिन्दी और उर्दू के लेखक जो दोहरा खेल खेल रहे हैं, वह बड़ा खतरनाक है । इससे लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी । साहित्यकार का राज्याश्रय से क्या तात्सुक ? राजनीति कभी साहित्य को आश्रय नहीं देती, स्वयं के लिए साहित्य के पट की ओट लेती है और काम निकलने के बाद उसी को जला देती है :

जेहि अंचल दीपक दुर्यो, हन्यो सो ताही पात ।

‘रहिमन’ असमय के परे, मित्र शत्रु ह्वी जात ॥”

मजार साहब कहते गए, “खानखाना से इस बारे में मेरी अकसर बातें होती रहती हैं । उनका कहना है कि राजनीति तो बेर के वृक्ष के समान है और साहित्य कदली-पत्र के समान । इन दोनों का साथ भला कभी हुआ है ?

फट्ट ‘रहिम’ कंसे निबहि केर-बेर कौ संग ।

वे झोलत रस आपने, इनके फाटत अंग ॥

एक बार साहित्यकार अगर राजनीति के घेरे में आ गया तो उसे जीते-जी भरा ही समाधिष्ट । साहित्यकार सदैव से निर्बल रहा है और राजनीति हमेशा से सबल । खानखाना ने इसी पर एक दोहा कहा है :

कंसे निबहें निबल जन, जरि सबलन सों बंर ।

। में बेचारे शायर यानी सेलक की हालत मछली जंगी हो जाती

२५५-तड़फड़ाकर प्राण छोड़ता है :

खरब बढ़यी, उद्यम बढ़यी, नृपति कठिन मन कीन ।

कहु 'रहिमन' कैसें गिए, बोरे जल की मीन ॥

इसीलिए खानखाना का कहना है कि राजनीति पहले तो साहित्यकार का पूरा रस निखोड़ लेती है और जब दीन होकर वह अपने जीवन के लिए बाढ़ में भरज करता है तो उसकी गरज को नहीं सुनती :

भरज-भरज

में भी कुछ चाह होती है और चाह की राह आप जानते हैं, राजनीति की तिजोरी में ही बन्द है।”

मजार साहब ने उत्तर दिया, “भगर खानखाना आपकी बात में महमन नहीं हो सकते। उन्होंने तो एक दिन मुझसे कहा था :

‘चाह गई, बिना घटी, मनुषा बेपरवाह।

जिनको बछ ना चाहिए, वे साहब के चाह ॥”

“मुद्रिया, मजारसाहब ! रहीमजी ने कोई और भी सन्देश दिया है क्या ?” हमने पूछा।

“हां, दिया है !” जवाब मिला। “उन्होंने कहा, उस मजमून को गायब न करें। रहीम और रहिमन एक ही हैं। रहिमन मेरी बीबी का नाम था और न खेतो का। दोहा, बरख, सोरठा, पद गर मेरे ही निगे हुए हैं, गंग बगैर के नहीं। इन तरह के निग के छाने में गामगा गलतफर्मी बढ़ेगी। और...”

“और क्या, मजार साहब ?”

“और यह कि आज तक खानखाना ने अपने पाग अपने बाने किसी निगर को खानी हाथ नहीं जाने दिया। आपके निग भी उन्होंने कुछ देने का कहा है।”

“क्या ?” हमने उत्सुकता से पूछा।

हमें खानखाना मुनाई दंडा, ‘वन रात को बारह बजे खान खानखाना के मजार पर आइए। दाहिने हाथ बाने दरवाजे की बायीं ओर जाने स्तर में आठवें एक हाड़ी मिलेगी। उसे उठा लेना और बिना पीछे कां ओर देने खुरवान मेहर बने खाना। खाने में उसे खोजना नहीं। घर आने पर दाहिने ओर की दरवाज मिलेगी।”

इसने खाने कि हम कुछ जवाब दें, टेवीखाने खानखाना पर हाड़ी का नाम सुनें ही दरवाजा खल गई। यह कह रहा था कि हाड़ी मेरी है और दुमरा कह रहा था कि मैं उसे लेने आऊंगा। दूसरे मजदूरों की दूसरे दरवाजा में बहाना ही नहीं, हाथपाई भी देने लगी थी दूसरे दुमरे आने में अपना खान बट गया।

11

देवकीनन्दन खत्री के नये उपन्यास का पता चला

फोन पर आवाज आयी, "मैं देवकीनन्दन खत्री बोन रहा हूँ नमस्कार !"

"नमस्कार ! नमस्कार ! ! अरे, आप हैं ! ! ! अहोभाग्य !" हमने हर्षातिरेक से कहा ।

"हा, हमने सोचा," खत्रीजी कहने लगे, "आजकल बड़े-बड़े साहित्यकारों का 'इण्टरव्यू' हो रहा है, जरा हम भी कुछ बात करें।"

"बड़ी कृपा की, खत्रीजी !"

"कृपा क्या की, कुछ हमारा काम भी आपसे था।"

"जाता कीजिए !" हमने कहा ।

"बात कुछ खारा नहीं। हमारी एक पुस्तक अप्रकाशित रह गई है, उसी के सम्बन्ध में आपको कुछ बताना है। कर सकें तो कुछ प्रवचन कीजिए।"

"कौन-सी पुस्तक ? आपके ज्ञात जीवन-वृत्त और साहित्य के शोध-ग्रंथों में तो ऐसी कोई चर्चा सुनी नहीं !"

"अगर वहां उसका जिक्र होता तो मैं आपको इस समय कण्ट बयों देता ?" खत्रीजी कहने लगे, "उसका रहस्य मेरे मित्रा कोई दूररा जानता ही नहीं ! वह तो 'भूतनाथ' से भी मौलिक है और 'चन्द्रकान्ता सन्नति' से भी अनूठी है।"

हमने आश्चर्यचकित होकर कहा, "आप कहते हैं तो वह प्रवचन ही ऐसी होगी। क्या नाम है उसका, बाबू साहब ?"

"वस, उसका नामकरण संस्कार ही रह गया था। इसीलिए वह मेरे जीवन-बान में प्रवास में नहीं आ सकी। बंगे मैंने उगकी प्रेम-बाँधी

हलो-हलो

तैयार कर ली थी और भूमिका भी सोच ली थी। उसका विषय घटपटा था। पर उसे छोड़िए, कथानक तो उसका ऐसा चौचका कि जो पढ़ता वह दंग रह जाता।"

"क्यों नहीं," हमने कहा, "हिन्दी में दो ही तरह के साहित्य हुए हैं—एक दंग करने वाले और दूसरे दंगा करने वाले। आपकी म तो सदैव से जो एकाग्र कथानक में तो । . . .

“ओह !” हमने गहरी सांस ली ।

खत्रीजी कह रहे थे — “कोई पचरन जिल्दों में बह छोटा और एक बार एक राइ प्रकाशित होने दीजिए । उसके बाद हिन्दी की अन्य सारी पुस्तकें छपनी और बिकनी चन्द हो जाएंगी । उसमें ‘राम-शास्त्र’ से लेकर ‘काम-शास्त्र’ तक की, दिल्ली से लेकर गांव-शास्त्र तक की, कराची के हलवे से लेकर बनारस की कचोड़ी तक, हाथी से लेकर चीटी तक और नर से लेकर दानर तक की दिलचस्प कहानी है । धर्म, इतिहास, राजनीति, गणित, विज्ञान, साहित्य और लोक-वार्ता तक सभी तत्व उसमें हैं ।”

“पर बाबू साहब, वह है वहाँ ?”

“वही बताने के लिए तो भाई, मैंने तुम्हें फोन किया है । कभी बनारस गए हो ?”

“जी हाँ, कई बार ।”

तभी फोन पर से आवाज आयी, “श्री मिनट्स भोवर प्लीज !” जैसे-तैसे उसे व्यापारिक संकेत करके हमने मना लिया कि भाई घड़ी देखना बन्द कर दे, बाद में समझ लेंगे । और वार्ता पुनः शुरू हो गई ।

“संकटमोचन हनुमानजी के दर्शन किए हैं ?”

“जी हाँ !”

“उसके मुख्य द्वार से प्रवेश करते समय लता-कुंज और पेड़-पौधे मिलते हैं ?”

“जी ।”

“तो मुनो,” खत्रीजी ने कहा, “दरवाजे से बीस कदम दूर एक पुराना पीपल का पेड़ है न ?”

“जी !”

“उसी पेड़ से कोई अस्सी हाथ पूरब में बिट्टी का एक उठा हुआ सा भूमिखण्ड है । उसके आस-पास पुरानी ईंटें और पत्थर के टुकड़े बिखरे हुए हैं । ध्यान आया ?”

“जी, रास्ते की दाहिनी तरफ या बायीं ओर ?”

हलो-हलो

७

"बायीं ओर ।"

"जी ! वही न जहा करोदे की एक सूखी-सी भाड़ी है ?"

"हां-हां, उससे सटा हुआ ही है वह चबूतरा । पहले पक्का बना हुआ था, भव वह टूट-फूट गया है । वही तुम चले जाना ।"

"जी, दिन में या रात में ।"

"यह काफ दिन में सम्भव नहीं, रात में ही जाना पड़ेगा । साथ

“नहीं, बाबू साहब, मैं दगल पूरा-पूरा ध्यान रखूंगा।”

“तो ठीक है,” खत्रीजी बोले, “जब तुम इसकी सीढ़ियाँ उतर चुकोगे तो तुम्हें एक पक्का दालान मिलेगा। दालान को पार करके तुम दाहिनी ओर मुड़ना। एक मुख्य बाटिका तुम्हारे स्वागत के लिए तैयार होगी।”

किंचित् रुककर खत्रीजी बोले, “मगर मेरे पास समय होता तो इस बाटिका की शोभा का वर्णन करना। पर तुम स्वयं रसज्ञ हो। जाकर सब कुछ अपनी आंखों से देख लोगे। उसके बीच में सप्त-धारा वाला एक संगमरमर या फव्वारा है। इसके शीतल जल की फुहार पड़ते ही तुम्हारी सारी थकान मिट जाएगी।”

खत्रीजी ने आगे बताया, “यहां दो पल बैठकर तुम फव्वारे की टोंटी को बायीं ओर घुमाना। इसके घुमाते ही फव्वारा बन्द हो जाएगा और जिस रास्ते से तुम इस तिस्रूम में घुसे थे, उसका रास्ता भी बन्द हो जाएगा। इस टोंटी का सम्बन्ध जीने की सीढ़ियों से है। उनके ऊपर अपने-आप एक शिला आ जाएगी और मिट्टी भी। संकटमोचन जाने वाला कोई व्यक्ति यह नहीं जान सकेगा कि ऊपर कुछ खोदा-पीटी भी हुई है।”

“मगर बाबू साहब, मैं वहां से निकलूंगा कैसे?” घबराकर हमने पूछा। लेकिन इससे पूर्व कि हमें खत्रीजी कोई जवाब देते, टेली-फोन-आपरेटर ने ‘सिक्स मिनट्स ओवर’ कहकर कनेक्शन काट दिया। देखें, अब कब जुड़ता है?

खत्रीजी का नवीनतम उपन्यास मिला तो सही, पर प्राप्त होकर भी वह अग्राप्त ही रहा। वह अनाम और अरूप तो था ही, अनिश्चित भी निकला। नी सन्दूको में कोरे कागज के पचीस हजार पृष्ठ अलग-अलग जिल्दों में बंधे हुए थे। पहली जिल्द के प्रथम पृष्ठ पर सुन्दर नागरी अक्षरों में लिखा था :

‘यह आज के जीवन, साहित्य और समाज की अनिश्चित कहानी है, जिसमें नाम का, व्यक्ति का और कृति का महत्त्व नहीं। सब कुछ कोरा, सपाट और अनिश्चित। यही तो है आज का जीवन, उसका साहित्य और समाज का ढांचा।

इस अनिश्चित को कौन लिखे ? इस अकल्पित को कौन परोसे ? पढ़ेगा भी

नया उपन्यास कुएं में कूदने पर मिल सकता है

बड़ी मुश्किल से सात दिन बाद पुनः श्री देवकीनन्दन खत्री से फोन जुड़ा। बात यह हुई कि कुछ बिसों का झमेला पड़ा हुआ था। कुछ टंक बालों के बिस आ गए थे, और कुछ के नहीं आए थे। कुछ हमने किए ही नहीं थे और कुछ बिना किए ही हो गए थे। कुछ फोनोग्रामों की हमें तो याद थी, मगर पंसा लेने वाले उन्हें भूले हुए थे। हफ्तों से लिखा-पढ़ी चल रही थी कि बंठकर कभी हिसाब साफ कर लिया जाए। मगर फोन बालों ने हिसाब साफ करने की बजाय कनेक्शन ही साफ कर दिया। बड़ी मुश्किल से भारी दौड़-धूप के बाद फिर से लाइन जुड़ी है। गलत या सही, सारा खयाल तो एकमुस्त जमा करना ही पड़ा, साथ ही दो बड़े नेताओं से इस बात की गारंटी भी दिलानी पड़ी है कि फोन का आगे से मिस-यूज (गलत इस्तेमाल) नहीं होगा। यानी फोन पर आगे से जीवित व्यक्ति ही बात कर सकेंगे, मृतक या अर्ध-मृतक नहीं। पिछली बार रहीम खानखाना के मन्त्र की बातचीत सुनकर, कहते हैं एक्सचेंज की कई लड़कियाँ बेहोश हो गई थीं।

हां, तो नमस्ते-नमस्ते के बाद खत्रीजी ने बताया, "घबराओ नहीं, हम आपको तिलिस्म से बाहर निकलने की भी राह बताएंगे, पहले पांडुलिपियों के सन्दूकों तक तो पहुंचा दें—हां, एक-दो नहीं, गिनती के पूरे नौ। उपन्यास के पूरे पचीस हजार पृष्ठों का ठोस मेटर है कि हँसी-खेल?"

"जी!"

"जी, बात यह है कि ये सन्दूक अत्यन्त गुप्त स्थान में रखे हुए

हलो-हलो

७५

हैं, क्योंकि मैं साहित्यकारों की चोरी धीर प्रकाशकों की सीनाजोरी से शुरू से ही परिचित हूँ। इसीलिए मैंने उसी फव्वारे के दक्षिण में लगे एक पलाश वृक्ष के पश्चिम में उगी हुई नागफनी के नीचे दुमंजिले तहखाने में इन्हें संभालकर रखा है।”

“यानी तिलिस्म के भीतर भी तिलिस्म !” हमने पूछा।

“हां !” खत्रीजी ने कहा, “बात यह है कि हमने सोचा अभी

“हां, खोलने पर वह कमरा तुम्हें बहुत ही अच्छा लगेगा। टाच जलाकर देखना—सामने ही एक तहत बिछा होगा। उस पर मसनद और गलीचे लगे होंगे और तहत की दाहिनी ओर की भलमारी के पीछे दीवार में एक-एक करके वे नौ सन्दूक चिने हुए हैं। भलमारी का ताला ‘जय भूतनाथ’ बहकर मुक्का मारने से खुलेगा। भलमारी का पत्थर तब सरकेगा, जब तुम यह कहोगे कि ‘चन्द्रकान्ते ! मैं आ गया हूं। द्वार खोलो !’

“और तुम्हारी पुकार पर भलमारी के पीछे का पत्थर अपने-आप नीचे खिसक जाएगा और एक-पर-एक रखे हुए वे नौ सन्दूक दिखाई देने लगेंगे।”

सत्रीजी ने आगे कहा, “उन्हें तुम होशियारी से एक-एक करके निकाल लेना। इन्हीं सन्दूकों में मेरे नवीनतम उपन्यास की पांडुलिपि है।”

“ठीक है, मैं ऐसा ही करूंगा।” हमने कहा।

“नहीं, अभी और भी बहुत कुछ बहना शेष है।” सत्रीजी बोले।

“बया, बाबू साहब ?”

“यह कि वे सब कागज कोरे हैं, उन पर कुछ लिखा नहीं है।”

“लिखा नहीं है ?”

“हां ! एबदम कोरे हैं, आज के बल्पना-मृत्यु लेखकों की तरह। बृद्धाचार है, आजकाल के बया-लेखकों के भारी, सिन्धु व्यर्थ दादाइयार की तरह। बोझिल हैं, आजकाल के बुद्धिजीवी विचारकों के प्रश्नोत्तरी तरीके की तरह। अलग-अलग सन्दूकों में बन्द हैं, पृथक्-पृथक् दृष्टि-कोणों और मतभेदों की तरह।”

हम बरस गए कि सत्रीजी यह क्या कह रहे हैं ?

यह कह रहे थे, “अगर तुम खुद बयों हो गए ? बया तुम ऐसा अनुभव करते हो कि दुनिया जारी निरिच्छा सोइने पर भी तुम्हारे हाथ कुछ नहीं मरेगा ?”

“जी ! ”

‘तो तुम्हारा यह सोचना गलत है । नौ सन्दूकों में से एक टन कोरे दिये कागज की उपलब्धि क्या कोई कम है ? आजकल की कागज की तंगी के जमाने में इनका क्या मूल्य है, जरा सोचिए ? लिये और छपे कागजों की तो रद्दी भी दो आने किलो विकती है । यह तो उम्दा किस्म का पुराना बैंक पेपर है, विलायती । अब मिलता भी

द्विवेदीजी का लिफाफा मिला

आया फोन कनकल से। किया आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के एक ऐतिहासिक शिष्य ने। रात को उन्हें सपने में 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक दिखाई दिए थे। स्वप्न में द्विवेदीजी ने उन्हें बताया, "चिरंजीव, मेरे जिस लिफाफे के लिए तुम परेशान थे, वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा में है ही नहीं। वह मेरे गांव दौलतपुर में है। अगर तुम परिश्रम कर सको तो उसे प्राप्त करने की विधि बताई जा सकती है।"

फोनकर्ता ने गुरु-शिष्य-संवाद को आगे बढ़ाते हुए बताया :

"वत्स, तुम तो दौलतपुर कई बार गए हो। मकान के दाहिनी ओर वाले कमरे में, जहां मैं सोया करता था, वहीं मेरी सभी लभ्य और भलभ्य सामग्री सुरक्षित है। मेरा पलंग आज भी वहां जैसे-का-तैसा बिछा रहता है। उसके सिरहाने के बाएं वाले पाए के नीचे तुम तीन हाथ चौड़ा और पांच हाथ गहरा गड्ढा खोदना। वहीं तुम्हें एक सवा हाथ चौड़ी पत्थर की शिला मिलेगी। इसे सावधानी से उठाना। इस शिला के नीचे मेरा इलाहाबादी संदूक रखा है। उसी संदूक में तुम्हें वह ऐतिहासिक लिफाफा मिल जाएगा।"

"शिला को उठाने समय..." आचार्य द्विवेदी ने हिदायत दी, "अपने साथ एक मोटा सौटा और दूध से भरा लोटा अवश्य रखना। सभा का एक पुराना सदस्य उस लिफाफे पर कुण्डली मारकर बंठा हुआ है। वह तुम्हें देखते ही फुंकारेगा। पर तुम्हारी बड़ी-बड़ी मूंछें और हाथ में मोटे को देखकर वह डर जाएगा। तुम उसे मारना नहीं। लोटा एक कोने में रखकर डंडे से इशारा कर देना। वह तुम्हारा

हलो-हलो

रास्ता छोड़ देगा ।”

सहसा फोन पर गड़बड़ी सुनाई दी । दिल्ली का मापरेटर अपनी साधिन से कह रहा था, “अप्यारी कहानी का मजा लेना हो तो लीलाजी, तुम भी कनेक्शन लगा लो ।” मापरेटरों की इस हिमाकत पर कनखल वाले दास्त्रीजी बिगड़ उठे । किसी प्रकार शान्त होकर हमें

तो केवल गुण-ग्राहक हैं। तो लीजिए पहला पत्र :

१

काशी

पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज,

वरण कमलेभ्यो नमः। मार्च महीना की 'सरस्वती' में अपनी कविता छपी देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आजकल हम यहां अपने परम मित्र... दासजी के पास एक व्यापारिक प्रसंग से आए हुए हैं। उनसे जब अपनी कविता मुद्रित होने की चर्चा सुनी तब बाजार में सेवक भेजकर पत्रिका मंगवाई। पत्रिका में अपने नाम की कविता बांधिके पित्त में आनन्द और विस्मय के भाव एक साथ जाग्रत हुए। आनन्द अपना नाम मयन-गोचर करके और आश्चर्य कविता को बांधिके हुआ। गुरुदेव, हमने तो कविता राखण की बहुत श्रुपंतशा पर पढ़ाई थी, पर यह तो जनकनग्निनी माता जानकीजी के शीपंक से मुद्रित हुई है। हमारी कविता तो हरिणीतिका छन्द में रची गई थी, पर यह तो वंशस्थ में है। हमने तो साधारण और ठेठ बोलभाष की भाषा में वर्णन किया था, मगर यह तो संस्कृत-गमित है। हमने कटी नाक को उलूक-नासिका की उगमा दी थी, मगर जब कविता पढ़ी तब उसमें बंगा था ही नहीं। आचार्यवर, वही रिमी धन्य की कृति तो हमारे नाम से नहीं छप गई है? यदि ऐसा नहीं है, तो फिर यह भाग्यी कृपा का ही प्रसाद है। प्राचीन कवियों ने ठीक ही कहा है :

गुरु दिनु ऐसी बौन करै ?

माया, गिरिध मनोहर बानो

से निर छत्र करै ।

भविष्य में भी आपसे ऐसी ही कृपा की कामना है। छोटसी बेर प्रकाश होकर आने का मङ्गल है। गुरुजी के 'महाप्रसाद' के लिए 'बंर का मंदरा' नाम लग २५० का प्रबंध कर लिया है।

धरम रत्न-

.....

हलो-हलो

८३

इस पत्र का उत्तर साथ में नत्थी नहीं है । पत्र के ऊपर कोने में
लाल पेंसिल से इतना अवश्य लिखा है--हिन्दी कविता को शूर्पनखा
की नहीं, सीता की आवश्यकता है । कविता की भाषा देहाती नहीं,
सुसंस्कृत होनी चाहिए ।—द्वि०

हलो-हलो

८५

जीवन में कभी ऐसे साहित्यकार से आपका सावका नहीं पड़ा, जो कलम से ही नहीं, देह से भी मजबूत है।

मभी इतना ही।

भवदीय

.....

लगता है द्विवेदीजी ने इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। यह पत्र देसी गौद से

उस दिन अचानक आचार्य रामचन्द्र
दुस्त फोन पर आ गए। उन्होंने परलोक में
भी साहित्य प्रचारिणी सभा की स्थापना
कर डाली है और हिन्दी के आधुनिक
साहित्य का नए सिरे से इतिहास लिखना



नए साहित्य का नवीनतम काल-विभाजन

"हमारी-आपकी तो शायद कही मुलाकात हुई है?" शुक्लजी ने हमसे फोन पर पूछा।

"जी हां, कई बार!"

"शायद आप काशी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में बाबू गुलामराय के साथ आए थे। तब मेरा मकान बन रहा था।" आचार्य ने कहा।

"जी हां, हम लोग आपके मकान पर भी हाजिर हुए थे। उस वर्ष आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।"

"हां, वह बड़े मौके पर मिला था। मकान के सिलसिले में उस समय रुपये की बहुत सख्त जरूरत थी। कहिए, कुशल तो तो हैं?"

"जी हां, कृपा है आपकी।"

"सुनिए, एक बात पूछनी थी," शुक्लजी ने कहा, "आप जो स्वर्गस्थ साहित्यकारों के इण्टरव्यू ले रहे हैं वे कल्पित हैं, या वास्तविक?"

हमने उत्तर दिया, "शुक्लजी महाराज, अगर आप वास्तविक हैं तो लेखमासा भी वास्तविक है। अभी टेलीविजन तो दिल्ली में घर-घर चालू हुआ नहीं। इसलिए आवाज ही सुनी जाती है, शकल तो सामने आती नहीं।"

"शकल मंते ही सामने न आए, मगर जो सामने सामने आ रही है, वह तो अद्भुत है। क्या बताऊं, मैं तो जल्दी ही धरती से उठ गया, नहीं तो अपने इतिहास में आपका उल्लेख भी अवश्य करता।"

हमने कहा, "कोई बात नहीं। हमें तो आपके फोनिक आशी-
र्वाद से ही तसल्ली है। मगर क्या आप आजकल का साहित्य देखते
हैं?"

"वह तो अपना पुराना व्यसन है। हम लोगों ने यहां भी एक
साहित्य प्रचारिणी सभा खोल ली है। बाबू श्यामसुन्दर दास उसके
मंत्री हैं और भारतेन्दुजी अध्यक्ष। पं० प्रतापनारायण मिश्र तो
पढ़ने से वे

से हर साल भारी तादाद में डाक्टर बाले जा रहे हैं। इयर एम० ए० पास करो और उपर डाक्टर बनो ! देश में साहित्य की बीमारी बहुत तेजी से बढ़ रही है न ? उपचार के लिए डाक्टर चाहिए ही। साहित्य में भले ही कोई व्यक्ति या संघ स्वीकृत न हुआ हो, विश्वविद्यालय की लेबोरेटरी में उस पर तत्काल काम प्रारम्भ हो जाता है। भारत सरकार को अपने निर्णयों में इस विश्वविद्यालयी तत्परता से शयक लेना चाहिए। सोम

हिन्दी का एक
व्यापक अपने पास
दुस्त की मुँहों के दो
बाल संभोए हुए है। वह
प्रति दिन उन्हें धूप देना



शुक्लजी की मूंछों का रहस्य

“दिल्ली के टेलीफोन वाले तो बड़े निर्दयी हैं।” आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा, “देखा न, उस दिन हमारा वाक्य भी पूरा न हो पाया कि कनेक्शन काट दिया।”

“उन्होंने आजकल हिन्दी के समालोचकों से होड़ लगा रखी है। जैसे आजकल के समालोचक बिना पूरी कृति को पढ़े ही उस पर अपनी राय बना लेते हैं और लेखक में अपना कनेक्शन काट लेते हैं मंसा ही फोन वाले भी करते हैं।”

“स्वयं आपने भी महाराज, अपने जीवन में यही किया। लोग बिल्लाते ही रहे, मगर आपने केशव को, कबीर को और छाया-वादियों को हृदय में स्वीकार नहीं ही किया।”

“तो क्या आपके टेलीफोन वाले भी छायावादी हैं, जो हमारी बात को बीच में काट रहे हैं?” शुक्लजी ने मूंछों-मूंछों में मुमकराने हुए कहा होगा। “अरे, हिन्दी समालोचना का हाल आजकल बहुत बुरा हो गया है। मैंने इसका भी वर्गीकरण किया है—मूढ़-देगी, नाम-देगी, प्रकाश-वर्क और तू मुमकी तो मैं तुमकी।”

हमने सोचा कि शुक्लजी ने आज कही समालोचना अध्याय लोग दिया तो पिछली बात रह जाएगी और छः मिनट बाद फोन फिर बंद जाएगा। इसनिश्चय पुछा, “आचार्य, आप उस दिन अन्धकाराश्रयी साहित्य का दर्शन कर रहे थे न?”

शुक्लजी बोले, “हां, मैंने आपको आश्रयी और विरक्ति-आश्रयी साहित्य के भेदभेद लिखनी बार बताया थे। आश्रय-आश्रयी और सहकाश्रयी यानी मोकाश्रयी ज्ञाना की बारन

कहूंगा। आजकल के अखबार हर रोज नए नेताओं का ही निर्माण नहीं करते, उनकी फैक्टरी से प्रतिदिन दर्जनों साहित्यकार भी ढलकर बाजार में घाते रहते हैं। जैसे मैथिलीशरणजी के बिना उमिला की कथा बनकही रह जाती, उसी प्रकार अगर अखबार न होते तो आज के ६६६६ कवि, ४२० कहानी-लेखक और कम-से-कम १० उपन्यासकार या तो जन्म ही नहीं लेते, या पैदा हो गए होते तो क्लर्क, किरानी

कुछ यही थे, कुछ दमका, कुछ उमका कंबी में काटकर गोंद में चिपकाते हैं कि पकड़ने वाला पकड़ न जाए और पढ़ने वाला लोहा मान जाए। इनमें में कुछ 'सीजन' होते हैं और कुछ 'रीजन'। हर 'सीजन' और हर 'रीजन' की रचनाएं इनके पास तैयार रहती हैं। ननुष्ठा तेली से लेकर नेहरूजी तक के जन्म-मृत्यु का सेन्सा इनके पास होता है। इधर आईर मिला और उधर सप्पाई हुई। यह मशीनी साहित्य है, हृदय का राग इसमें स्पन्दित नहीं होता। इनके दीर्घक और डिजाइन ही देखने योग्य होते हैं। मैं तो सिर्फ लेखकों के नाम ही देखता हूँ, पढ़ने का कभी कष्ट नहीं करता। आजकल के अखबार डिजाइन बगैरह के लिए छापे जाते हैं, साहित्य के प्रकाशन और प्रवर्धन से उनका क्या वास्ता? इसीलिए मैं भी उनसे अपना वास्ता नहीं रखता।”

“और लोकाश्रयी साहित्य के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?” हमने शुक्लजी से पूछा।

“लोकाश्रयी साहित्य तो शुद्ध अर्थ में रहा ही नहीं। क्योंकि लोक का रस इस समय साहित्य में है ही नहीं। वह तो रोटी और बोटी की चिन्ता में घुला जा रहा है। आजकल लोक-मानस जड़ता से पीड़ित है। उसे नारे चाहिए, साहित्य नहीं। श्रम-सीकर चाहिए, मलय-समीर नहीं। इस्पात-पिंड चाहिए, पाटल-पटल नहीं। इसलिए लोकाश्रयी साहित्य भी आजकल कामोदरवाद से पीड़ित है। मेरा चित्त इसे देखकर प्लानि से भर जाता है। कृपया इसके बारे में मुझसे कुछ अधिक न कहलाइए।”

हमने कहा, “छोड़िए! मगर इतना तो बता दीजिए कि इस समय हिन्दी में आपका सही उत्तराधिकारी कौन है? क्योंकि इस पर अनेक लोगों के दावे हैं और विद्यार्थी मुश्किल में हैं।”

सुनकर शुक्लजी हँसे। कहने लगे, “जब यह प्रश्न नेहरूजी ने जीते-जी तय नहीं किया तो मुझसे आप ऐसी दुराशा क्यों करते हैं?”

हम कुछ कहने ही वाले थे कि एक पतली-सी धावाज सुनाई

दी, "सिक्स मिनट्स ओवर प्लोज ।"

हम गिड़गिड़ाए, "केवल कुछ सेकंड और दीजिए, मैडम !"

उत्तर मिला, "ओ, हम मैडम नहीं, मिस हैं। जरूरी खत्म कीजिए ।"

सुनकर शुक्लजी बोले, "लीजिए, अल्टीमेटम आ गया। खैर, सुनिए—मैंने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। हां, एक



फोन इस बार भूत से नहीं,
वर्तमान से हुआ। खबर हमने
किसीकी नहीं, किसी ने हमारे





"क्षमा कीजिए," हमने कहा, "फोन पर आवाज साफ नहीं आ रही। क्या कहा आपने—प्रयोजन या भोजन?"

उत्तर मिला, "प्रयोजन! यानी मतलब?"

"मतलब? यानी स्वार्थ! भजी, छोड़िए भी स्वार्थ की बातें, कुछ परमार्थ-चर्चा कीजिए। कहिए, बाल-बच्चे तो भजे में हैं?"

"भजे में! वे तो आपकी ऊटपटांग रचनाएं पढ़-पढ़कर बिगड़

फोन भूत से नहीं, वर्तमान से आया

"हलो !"

"जी !"

"इज इट दू सेवन एट डवल दू वन ?"

"जी !"

"आप ही आजकल 'हलो-हलो' लिखते हैं ?"

"जी !"

"यह फोन आपका हो है ? आप खुद ही बोव रहे हैं न ?"

"फोन तो जी सरकारी है। किराये का है। बोल मैं असबत्ता खुद रहा हूँ।"

"आप क्या बोलते हैं ? क्या कहते हैं ? उसका क्या मर्थ होता है ? कभी यह भी सोचा है ?"

हम चकराये। मामला क्या है ? पूछा, "जी, समझ में नहीं आया कि आप क्या कहना चाहते हैं ?"

उत्तर मिला, "कहना यही चाहते हैं, आप जो कुछ इस कॉलम में लिख रहे हैं, वह भी हमारी समझ में नहीं आ रहा।"

हमने धीरे-से कहा, "तो फिर इसे समझ बा फेर कहने की धृष्टता की जाए !"

"धृष्टता तो आप कर ही रहे हैं," फोन पर डांटने हुए हमें कहा गया, "मान्य साहित्यकारों, महात्माओं और समाज में प्रतिष्ठित पुरुषों के सम्बन्ध में बेमसाम और बेतुफी बातें छान क्यों लिख रहे हैं ? हम प्रचार की निगाह, और हमें लगाने वाले निराने का आपका प्रयोग क्या है ?"

“क्षमा कीजिए,” हमने कहा, “फोन पर आवाज साफ नहीं आ रही। क्या कहा आपने—प्रयोजन या भोजन ?”

उत्तर मिला, “प्रयोजन ! यानी मतलब ?”

“मतलब ? यानी स्वार्थ ! अजी, छोड़िए भी स्वार्थ की बातें, कुछ परमार्थ-चर्चा कीजिए। कहिए, बाल-बच्चे तो मजे में हैं ?”

“मजे में ! वे तो आपकी ऊटपटांग रचनाएं पढ़-पढ़कर बिगड

है ! जय-जय भारत पर हवाई हमले का खतरा बढ़ता है, अपना तबला भी जोर से बजने लगता है । आप ही बताइए हवा को किसी ने पकड़ा है ? छाया को किसी ने बांधा है ?”

उधर से आवाज आयी, “तो इसमें इतना धीर जोड़िए कि निर्लज्ज को कभी किसी ने गाली दी है ?”

“बिलकुल सही फरमाया आपने । मगर लज्जा का अर्थ कृपया आप धीर जान लीजिए ।”

मारे गुस्से के शायद उधर से फोन करने वाले सज्जन का बोल नहीं निकला । मगर हमने कहना जारी रखा ।

“सुनिए,” हमने कहा, “जयजंकर प्रसादजी लज्जा के बारे में फरमा गए हैं—मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
श्री शालीनता सिखाती हूँ ।”

“पर आप तो शालीनता से जरा भी काम नहीं ले रहे । घटनाओं और रचनाओं को बुरी तरह तोड़-मरोड़ रहे हैं ।”

“मगर सुनिए, इसमें हमारा कोई कसूर नहीं ।”

“तो फिर किसका है ?”

“कसूर युग का है जी ! यह युग ही तोड़-फोड़ का है । सीधे कोई साहित्य के गढ़ में घुसने ही नहीं देता तो हमने सोचा—तोड़-फोड़ से ही घुसा जाय ।”

“तो क्या साहित्य में भी तोड़-फोड़ चलती है ?”

“तोड़-फोड़ ही नहीं, जोड़-तोड़ भी चलती है ।”

“कैसे ?”

“ऐसे कि पहले किसी पुराने साहित्यकार की रचना को तोड़-फोड़ करके अना बनाना शुरू किया ।”

“जी !”

“फिर जब कुछ लिखने लगे तो कहना शुरू किया—अजी, अमुक क्या जानता है, अमुक ने क्या लिखा है, वह क्या लिखेगा ? यह दूसरे नम्बर की तोड़-फोड़ हुई ।”

हलो-हलो

१०३

“जी !”

“फिर किसी कवि-सम्मेलन के संयोजक को चाय पिलाकर, पत्रिका के सम्पादक को किसी कॉफ़ेस का सभापति बनाकर, किसी प्रकाशक की किताबें देहाती लाइब्रेरी में खरीदवाकर दूसरों की तरफ से तोड़ा और अपनी तरफ फोड़ा।”

“और जोड़-तोड़ ?”



